

**INDIAN JOURNAL OF SOCIAL SCIENCES AND SOCIETIES**

**VOL-04, FEB. 2008**

*EDITOR:*

**DR. RISHIKESH SINGH**

*PUBLISHED BY:*

**INDIAN LABORATORY OF SOCIAL  
SCIENCES AND SOCIETIES**

*CONDUCTED BY:  
(DRST3, IV/147/2001)*

**ISSN 0974-7265**

\* All rights reserved. No part of this publication including its style and presentation, may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means- electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise without the prior written concern of "Indian Laboratory of Social Sciences and Societies".

\* View expressed in research papers are personal opinions of all contributors.

**\* Biannual**

\* International Standard Serial Number : 0974-7265

**\* Prints-1000 copies.**

**\* Not for sale. Only for academic use.**

\* Edited by **Dr. Rishi Kesh Singh**, Senior Lecturer, Post Graduate Department of Political Science, Lal Bahadur Shastri Post Graduate College, Gonda, (U.P.) and published by "**Indian Laboratory of Social Sciences and Societies**" (Conducted by : DRST3, IV/147/2001) Gandhamadan, 20 -Laxmanpuri Colony, Amaniganj, Faizabad, (U.P.) and printed by **Sri. Tarkeshwar Singh, Sarva Seva Sangh Campus, Rajghat, Varanasi (U.P.)** for carrier point computer education centre (**Transit office of the "Indian Laboratory of Social Sciences and Societies"**, 447 , Malviya Nagar, Gonda (U.P.)

## अनुक्रमणिका

क्र. सं.	शोध-पत्र	शोधार्थी	पृष्ठ
1.	सम्पादकीय		04
2.	सामाजिक समरसता और दलित चेतना	डॉ. श्यामनारायण तिवारी	05-08
3.	स्वतंत्रता आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी	कुँवर राजेश प्रताप सिंह	09-12
4.	भारत में गरीबी	डॉ. विजय कुमार अग्रवाल	13-16
5.	भारतीय शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति का पद, बदलते राजनीतिक परिदृश्य में बदलती भूमिका	विजय प्रताप मल्ल	17-20
6.	महर्षि पाणिनी : भ्रान्ति और यथार्थ	डॉ. मंशाराम वर्मा	21-25
7.	दृष्टि एवं सृष्टि की परिधि में संविकास	डॉ. मिथिलेश मिश्र/ डॉ. एस. पी. सिंह	26-38
8.	द्विवेदीयुगीन आलोचना : एक विवेचन	ऋचा सिंह	39-42
9.	भारतीय संसदीय लोकतंत्र के समक्ष साम्रादायिकता, जातिवादी, धर्मनिरपेक्षता, भ्रष्टाचार और अपराधिकरण की चुनौतियाँ	डॉ. ऋषिकेश सिंह	43-49
10.	<i>Is Intelligence as Well as Emotional Intelligence Determined More by our Genes or our Environment or our Sex?</i>	S. N. Singh	50-54
11.	<i>Judicial Objectivity - A Conceptual Frame Work</i>	Dr. Ramakant Singh	55-59

## सम्पादकीय

मैं "Indian Journal of Social Sciences and Societies" के चौथे अंक को सम्पादित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। यह शोध-पत्रिका अगस्त 29, 2006 को निःसंरित अपने पहले अंक से प्रारम्भ हुई तथा फरवरी 29, 2008 को इसका चौथा अंक प्रकाशित हो रहा है। जानने योग्य तथ्य यह है कि "Indian Laboratory of Social Sciences and Societies" अपने आप में एक अनूठी और बिलकुल सामयिक दृष्टिकोण की संस्था है जो अन्तर अनुशासनात्मक पद्धति को अपनाकर नवीनतम शोधों को बढ़ावा देती है और प्रस्तुत शोध-पत्रिका के माध्यम से प्रकाशित करती है। प्रस्तुत शोध-पत्रिका "Indian Journal of Social Sciences and Societies" अन्तर्राष्ट्रीय मानक क्रमांक संख्या प्राप्त एक गम्भीर पत्रिका है। ऐसा नहीं है कि दुनियाभर में शोध-पत्रिकाओं का अभाव है परन्तु विषयवार शोध-पत्रिकाएँ वर्तमान समय में शोध-प्रकाशन की परम्परा को चाहे जितना आगे बढ़ा ले जायें, लेकिन शोध की यथार्थता को प्राप्त नहीं कर सकतीं। अन्तर अनुशासनात्मकता प्रस्तुत शोध-पत्रिका का प्राण है। क्योंकि जिस तरह प्राचीन समय में ज्ञान की कमी के कारण ज्ञान का विभाजन सम्भव नहीं था, उसी तरह वर्तमान में ज्ञान का इतना अधिक उलझाव और परस्पर निर्भरता है कि ज्ञान का विभाजन असम्भव है।

मैं "Indian Laboratory of Social Sciences and Societies" के सम्पूर्ण अंगों/विभागों का इस अंक के प्रकाशन में सहयोग के लिए आभारी हूँ।

अन्तर अनुशासनात्मकता की प्रवृत्ति में बदलाव के अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार के नकारात्मक और सकारात्मक सुझावों का स्वागत है।

प्रत्येक नयी सोच का भी स्वागत है।

फरवरी 29, 2008

-ऋषिकेश सिंह

## सामाजिक समरसता और दलित चेतना

—डॉ. श्यामनारायण तिवारी \*

दलित समरसता, दलित चेतना, मुक्ति एवं स्वतंत्रता, राजनीति शास्त्रीय विचार-विमर्श के प्रमुख बिन्दु हैं। सामाजिक समरसता की व्याख्या स्व-अधिकारों का दावा अथवा स्व-इच्छा व उद्देश्यों के संदर्भ में सकारात्मक घोषणा के रूप में की जा सकती है। दलित चेतना ने समाज वैज्ञानिकों तथा मानवाधिकार कार्यकर्ताओं को दलितों के अधिकार एवं जातिगत भेदभावों के प्रति विशेष रूप से आकर्षित किया। दलित को उच्च जातियों, वर्गों तथा राज्य के विरोधों अवरोधों एवं दबावों का सामना करना पड़ता है। किन्तु दलितों के सामूहिक प्रयासों ने उन्हें उनकी पहचान स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

जाति व्यवस्था द्वारा उत्पन्न निषेध, भेदभाव तथा सीमाएँ (मुख्यतः अस्पृश्यता) दलितों के ऐतिहासिक एवं सामाजिक मुद्दे रहे हैं। यह एक प्रमुख तथ्य है कि सामाजिक व धार्मिक सुधारों, चुनावी राजनीति में सहभागिता, निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रमों, विशेष कल्याण योजनाओं तथा सकारात्मक कार्यों ने जाति व्यवस्था की कुप्रथाओं को आशातीत रूप से प्रभावित नहीं किया। दलितों के ऊपर आरोपित शोषण एवं अत्याचारों ने उन्हें अपनी पहचान एवं क्रोध को प्रदर्शित करने के लिए प्रेरित किया। अनेक वर्षों से विभिन्न सुधारों तथा विद्रोहों ने दलितों को एक विशिष्ट पहचान दी एवं भारतीय परिदृश्य में उनके अस्तित्व को दृढ़ किया है।<sup>1</sup>

कुछ प्रमुख सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक कारकों ने दलित समरसता में महती भूमिका निभायी है। इस संदर्भ में एलिनर जेलियट का विचार है कि डॉ. अम्बेडकर दलितों के मध्य गुरु के सादृश्य हैं जिन्होंने अपने शिष्यों को स्व-पहचान एवं स्व-विवेक विकसित करने की दिशा में अग्रसरित किया। जेलियट ने स्पष्ट किया कि डॉ. अम्बेडकर की छवि को गांधीजी के व्यक्तित्व के नितान्त विरोधी माना जाता है जिसका कारण यह है कि गांधीजी ने दलितों को 'हरिजन' कहकर सम्बोधित किया जो दया एवं करुणा के पात्र हैं जबकि अम्बेडकर का दलित गौरव, गरिमा एवं आत्म-सम्मान से परिपूर्ण है। उनके सामाजिक आन्दोलन उनकी गरिमा से उत्पन्न हुए हैं।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने सन् 1923 में अछूतों के उद्धार के लिए संघर्ष प्रारम्भ कर दिया था। सन् 1923 से ही अम्बेडकर ने बम्बई से एक पाक्षिक समाचार-पत्र 'बहिष्कृत भारत' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। अम्बेडकर ने दलित वर्गों को संगठित करने की आवश्यकता अनुभव की, जिससे वे सर्वर्णों द्वारा किये जा रहे सामाजिक अन्याय का प्रभावशाली ढंग से विरोध कर सकें। इस उद्देश्य से उन्होंने 20 जुलाई, 1924 को 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की। इस सभा की गतिविधियों को गति देने के लिए उन्होंने महाराष्ट्र के विभिन्न भागों का दौरा किया तथा दलित वर्गों में इस संदेश का प्रसार किया कि उनका उत्थान शिक्षा, संगठन और स्वयं उनके द्वारा सक्रिय एवं प्रभावी संगठन के माध्यम से ही सम्भव है। अप्रैल, 1925 में अम्बेडकर ने बम्बई प्रेसीडेन्सी में नेपानी नामक स्थान पर 'प्रान्तीय दलित वर्ग सम्मेलन' की अध्यक्षता की।

डॉ. अम्बेडकर ने दलित वर्गों को संगठित संघर्ष की प्रेरणा भी दी। संगठित संघर्ष का यह प्रारम्भ 'महद सत्याग्रह' से हुआ। इस सत्याग्रह ने दलितों में आत्मविश्वास के भाव को जागृत किया। इसके बाद अम्बेडकर ने दलितों में चेतना जागृत करने और उन्हें उनके अधिकार दिलाने के लिए पूना-पारवती सत्याग्रह, कल्याण मंदिर

---

\* ग्राम-योगियाँ, पोस्ट-सेंसड, जिला-रोहतास (बिहार)

प्रवेश सत्याग्रह आदि आन्दोलनों को प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान किया। सन् 1930 में उन्होंने 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' का अध्यक्ष पद ग्रहण किया। अपने अध्यक्षीय भाषण में 8 अगस्त, 1930 को उन्होंने हिन्दुओं की जातिगत व्यवस्था द्वारा उनकी नष्ट की गयी शक्ति की कड़ी निन्दा की। इस अवसर पर उन्होंने भारत के लिए स्वशासन की जोरदार वकालत की; किन्तु साथ ही स्पष्ट किया कि स्वराज्य की कोई योजना तभी सार्थक और सफल हो सकती है जबकि उसमें दलितों के समान अधिकारों को मान्यता दी जाये और उनके प्रति शताब्दियों से चले आ रहे सामाजिक अन्याय का प्रतिकार किया जाय। उन्होंने सन् 1930 और 1931 में लन्दन में आयोजित प्रथम और द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में दलितों के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। सम्मेलन में और उसके बाद भी डॉ. अम्बेडकर ने इस बात पर बल दिया कि 'दलितों को विधान परिषदों में हिन्दू समाज से पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाना चाहिए।'

डॉ. अम्बेडकर प्रबल देशभक्त और भारत के राष्ट्रीय एकीकरण के समर्थक थे, लेकिन सार्वजनिक जीवन में महात्मा गांधी और कांग्रेस के साथ उनके मतभेद बने रहे। मतभेद का एक आधार तो दलितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व का प्रश्न था। इसके साथ ही डॉ. अम्बेडकर का यह दृष्टिकोण था कि 'उन व्यक्तियों तथा संस्थाओं को अछूतों की बात कहने का हक नहीं है जो अछूत नहीं हैं।' कुछ अवसरों पर तो डॉ. अम्बेडकर ने कांग्रेस और महात्मा गांधी के प्रति भारी कटुता की स्थिति को अपना लिया। डॉ. अम्बेडकर कहते थे कि 'कांग्रेस ने अछूतोद्वारा के कार्य में ईमानदारी का परिचय नहीं दिया है।'

डॉ. अम्बेडकर ने अपने साथियों की सलाह से अगस्त, 1936 ई. में 'इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी' की स्थापना की। इस राजनीतिक संस्था ने दलित वर्ग, मजदूर व किसानों की अनेक समस्याओं को लेकर कार्य आरम्भ किया। दलितों को सामाजिक जीवन में समानता की स्थिति प्राप्त हो, इस बात के लिए संवैधानिक व्यवस्था डॉ. अम्बेडकर के प्रयत्नों का ही परिणाम है।<sup>2</sup>

पंजाब में ताल्हान गाँव में बाबा निहालसिंह गुरुद्वारा की प्रबन्ध समिति में प्रतिनिधित्व की माँग ने दलितों एवं अस्पृश्य जातियों के लिए सामाजिक जागरूकता तथा भारतीय समाज व राजनीति में यथोचित स्थान प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया। यह समानता एवं समान अधिकारों के लिए दलित समरसता को इंगित करता है।

ताल्हान की ही भाँति देश के अनेक क्षेत्रों में दलित समरसता हेतु संघर्ष ने राजनीतिक दलों की वास्तविकता तथा मात्र चुनावों तक सीमित उनकी राजनीति को उजागर किया है एवं भारतीय सामाजिक व्यवस्था की पुनर्संरचना के लिए विचार-विमर्श को बल प्रदान किया है। समरसता निर्धारण एक सार्वभौमिक तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया है जो 'स्वयं' के विषय में अनुभव तथा दूसरों के साथ सम्बन्धों पर आधारित होता है। ये अनुभव उपस्थित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक वातावरण में घटित होते हैं। डॉ. फर्नाण्डो फ्रांस के मतानुसार एक समूह की पहचान का निर्धारण उस समूह के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया के विश्लेषण से सम्बन्धित होता है। इस पहचान निर्धारण की प्रक्रिया में दो अन्तर्सम्बन्धित तत्त्वों की भूमिका होती है। प्रथम, विचारधारात्मक—प्रतीकात्मक तत्त्व है जो व्यवस्था के विश्वासों एवं व्यवहारों को इंगित करते हैं। ये विश्वास तथा विभिन्न सांस्कृतिक भाव उस समूह को सहगामी भूमिका उपलब्ध कराते हैं। द्वितीय, भौतिक तत्त्व जो समूह की प्राथमिक आजीविका तथा दूसरों के साथ उत्पादन सम्बन्धों के निर्धारण में भौतिक, जैविक एवं आर्थिक परिस्थितियों को इंगित करते हैं।<sup>3</sup>

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् दलित समरसता का स्वरूप बहुमुखी हो गया है। 'दलित' शब्द स्वयं एक क्रान्ति का परिचायक है। दलित भारतीय जनसंख्या के वे अंग हैं जिन्हें अस्पृश्य एवं अछूत कहकर सम्बोधित किया जाता है। दलितों की यह प्रबल धोषणा है कि उनका कई वर्षों तक शोषण किया जाता रहा है किन्तु अब वे इस अत्याचार एवं शोषण को सहन नहीं करेंगे।

अत्यन्त प्राचीन समय से उच्च जातियाँ ही सामन्त, भू-स्वामी, ग्राम-पंचायतों के प्रधान, साहूकार तथा राज्यतंत्र के प्रतिनिधि रहे हैं। जबकि दलित प्राचीन समय में तथा आज भी भूमिहीन, कृषि-श्रमिक, निरक्षर, बँधुआ मजदूर एवं बहिष्कृत हैं। निरन्तर शोषण तथा असमान व अप्रजातांत्रिक सामाजिक, राजनीतिक परिवेश ने दलितों को समाज में द्वितीय श्रेणी का नागरिक बनने के लिए विवश कर दिया।

यद्यपि दलित दासत्व एवं प्रतिबन्धों के शिकार रहे हैं, पर उन्होंने शोषण के प्रत्येक रूप का सदैव विरोध किया है। विशेष रूप से संविधान में वर्णित अधिकारों तथा सुविधाओं ने उन्हें सभी के लिए अधिकारों की समानता की माँग के लिए प्रेरित किया जिसने कालान्तर में दलितों के अन्तर्मन में राजनीतिक चेतना का संचार किया। जातिगत भेदों तथा जाति व्यवस्था के विरुद्ध दलितों के संघर्ष ने उन्हें निश्चित रूप से उस घृणित स्तर से ऊपर उठाया है।

दलितों द्वारा उत्पीड़न के प्रत्युत्तर को अनेक शोध अध्ययनों ने दो अन्तर्सम्बन्धित वास्तविकताओं के रूप में स्पष्ट किया है। कुछ मामलों में दलितों एवं उनके संगठनों ने उच्च जातियों तथा राज्य द्वारा उत्पीड़न के संदर्भ में 'विनयपूर्ण' दृष्टिकोण अपनाया। कुछ अन्य मामलों में दलितों को संगठित कर गतिमान बनाने के प्रयत्नों का विरोध करने वालों को मुँहतोड़ जवाब दिया गया। दलित महिलाओं के सम्मान को दलितों ने अधिक दृढ़ता एवं मजबूती से प्रस्तुत किया। दलित पुरुषों की तुलना में दलित महिलाओं ने त्रिकोणात्मक शोषण (जाति, वर्ग एवं लिंग) को वहन किया। अतः दलित समरसता तथा दलित आन्दोलन का प्राथमिक चरण इस परिप्रेक्ष्य में सामाजिक परिवर्तन लाना था। दलित महिलाओं ने अपने जीवन एवं संघर्ष के सम्बन्ध में समरसता (व्यक्तिगत स्तर पर, पारिवारिक स्तर पर, कार्यस्थलों पर, धार्मिक क्षेत्र तथा दलित व सम्पूर्ण सामाजिक स्तर पर) का निर्माण स्वयं किया है।<sup>4</sup>

यह सर्वमान्य तथ्य है कि स्थानीय, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर दलितों की आर्थिक स्थिति मात्र विकास योजनाओं की संख्याओं तक ही सुधरी हैं तथा किसी संसाधन, श्रम-नियंत्रण रोजगार इत्यादि पर उनका कोई स्वामित्व नहीं है। सामाजिक स्तर पर अस्पृश्यता एवं क्रूरता के परिणाम दलित विचार-विमर्श के प्रमुख अंग के रूप में प्रतिस्थापित हैं जो दलितों की सामाजिक-राजनीतिक गतिशीलता के द्योतक है किन्तु यह जागृति या जागरूकता सम्पूर्ण दलित समाज में समान रूप से दृष्टिगोचर नहीं होती। यदि दलित समरसता के लिए उनका संघर्ष निरन्तर तथा उत्तरोत्तर प्रगति करता है तो निश्चित रूप से वह समय दूर नहीं जब सम्पूर्ण भारतीय समाज की पुनर्संरचना का स्वप्न साकार हो जायेगा।<sup>5</sup>

1970 के दशक के अन्त में उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी के उदय, विस्तार एवं सशक्तीकरण ने उत्तर-भारत में दलित समरसता को शक्ति प्रदान की। सन् 1987 में उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा मध्य प्रदेश में बसपा एक सुगठित शक्ति के रूप में उदित हुई। बसपा का गठन 14 अप्रैल, 1984 में किया गया।

सुधा पाई ने उत्तर प्रदेश में दलितों द्वारा अपनी समरसता बनाने के लिए तीन प्रयासों का उल्लेख किया है। प्रथम प्रयास औपनिवेशिक काल के अन्तिम चरण में आगरा, अलीगढ़ व मेरठ के चमारों व जाटों द्वारा किया गया जब उन्होंने डॉ. अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित होकर गांधी के आदर्शों की तिलांजलि दे दी। दूसरा प्रयास 1956 में किया गया जब अम्बेडकरवादियों ने 'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया' का गठन किया पर इस प्रयास को सफलता न मिली क्योंकि कांग्रेस ने दलितों को अपने में मिला लिया था। 1980 के मध्य में बसपा का उत्तर प्रदेश में अभ्युदय तीसरे प्रयास को व्यक्त करता है।<sup>6</sup>

बसपा के अभ्युदय एवं उसकी 'वैकल्पिक सामाजिक-व्यवस्था' के विकास में सुधा पाई ने पुनः तीन चरणों को रेखांकित किया है। प्रथम चरण में मनुवादियों द्वारा निर्मित परम्परागत हिन्दू सामाजिक व्यवस्था एवं समकालीन सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना की गयी। यह आलोचनात्मक विचार-विमर्श दलित बहुजनों को जागृत करने तथा एक वैकल्पिक सिद्धान्त के पूर्व भारतीय समाज में उनकी निम्नतम स्थिति का

बोध कराने के लिए आवश्यक था। द्वितीय चरण में जो 1980 के दशक के अन्तिम एवं 1990 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में परिलक्षित होता है, कांशीराम व मायावती ने सामाजिक न्याय पर आधारित 'वैकल्पिक सामाजिक-राजनीतिक संरचना' बहुजन समाज का विचार प्रतिपादित किया। यह दलित बहुजनों को भारतीय समाज में न्यायपूर्ण सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थान प्रदान करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था। तृतीय चरण इस 'वैकल्पिक व्यवस्था' के क्रियान्वयन से सम्बद्ध है जो पार्टी के 1996-97 में सत्तारूढ़ होने पर परिलक्षित होता है।

बसपा के 'दलित राजनीतिक दल' के रूप में उदित होने के परिणाम के विषय में क्रिस्टोफर जेफ्रीलोट का मत है कि भारत के विशाल राज्य में मायावती का मुख्यमंत्री बनना अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधित्व का सर्वप्रथम अवसर था। अनेक दलितों के लिए वह सम्मान के स्रोत के समतुल्य हो गयी। मायावती के उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पद पर आसीन होने के कारण बसपा के वोट बैंक में अपूर्व वृद्धि हुई।

शिक्षा, दलित साहित्य के अध्यक्ष, अम्बेडकर की प्रतिमाओं की स्थापना, उनके जन्म दिवस को मनाना, दलितों के हितों के रक्षार्थ संगठनों के निर्माण एवं शोषण व कूरताओं का विरोध इत्यादि गतिविधियों ने दलितों के जीवन-स्तर में सुधार के प्रयासों को बल दिया; दलितों को जीवन के प्रत्येक स्तर पर उच्च जातियों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने तथा उनके आधिपत्य का विरोध करने की योग्यता प्रदान की। वर्तमान समय में कोई भी उच्च जाति दलितों का अनुचित प्रयोग नहीं कर सकती। मायावती सरकार ने एक विशिष्ट भूमि सुधार प्रक्रिया प्रारम्भ की जिससे लाखों दलितों को लाभ प्राप्त हुआ।

दलित समरसता का आन्दोलन मात्र जाति-व्यवस्था तथा अस्पृश्यता की दूषित रीति के विरोध तक सीमित नहीं है। इसका प्रमुख ध्येय भारतीय सामाजिक व्यवस्था की पुनर्संरचना कर एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसमें शोषित-वर्ग की संसाधनों, शक्ति, संरचना, सामाजिक सम्मान एवं धार्मिक प्रक्रियाओं में समान सहभागिता हो सके।<sup>7</sup>

## संदर्भ

1. लुइस प्रकाश (सम्पादित), उत्तर भारत में दलित पहचान : एक दृष्टि; शोधार्थी, नई दिल्ली, जुलाई-सितम्बर 2005, पृ. 39-40
2. गुप्ता, एम. एवं डी. डी. रामा, भीमराव अम्बेडकर : सामाजिक न्याय और जातियाँ, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, 2006, पृ. 305
3. पानताबडे, गंगाधर (सम्पादित), दलित साहित्य : दशा और दिशा, अम्बेडकर इन इण्डिया, लखनऊ, मार्च-अप्रैल 2002, पृ. 11-12
4. मोहन अरविन्द (सम्पादित), युद्ध, साम्राज्यिकता और राजनीति, शेष दुनिया; नई दिल्ली, अक्टूबर-दिसम्बर 2002, पृ. 43-44
5. विवेकानन्द स्वामी (सम्पादित), मैं समाजवादी हूँ, हंस, नई दिल्ली, अक्टूबर 1997, पृ. 15-17
6. लुइस प्रकाश (सम्पादित), शोधार्थी, नई दिल्ली, उपरोक्त।
7. उपरोक्त।

## स्वतंत्रता आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी

—कुँवर राजेश प्रताप सिंह\*

भारतीय स्वाधीनता के मायने भले ही भारत की आजादी से हो, लेकिन भारत की आधी आबादी अभी भी उससे कोसों दूर है। यह आधी आबादी है महिलाओं की। भारतीय स्वाधीनता के लिए असंख्य लोग शहीद हुए जिसमें रामप्रसाद बिस्मिल, शहीद भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, लोकमान्य तिलक, सुभाष चन्द्र बोस के नाम शीर्ष पर हैं। अहिंसा के पुजारी के रूप में महात्मा गांधी का नाम लिया जाता है तो आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में पं. जवाहरलाल नेहरू को याद किया जाता है। स्वाधीन भारत के आम लोगों को स्वतंत्रता का अधिकार मिला है मगर समानता का अधिकार आज भी नहीं मिल पाया है। यह समानता स्त्री-पुरुष के बीच है। पुरुष प्रधान समाज में आजादी के 60 वर्ष बाद भी महिलाओं का पुरुष के बराबर अधिकार नहीं है। उसे आज भी दोयम दर्जे का माना जाता है। भारतीय नारी ने स्वाधीनता आन्दोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, देवी चौधरानी, रानी चेनम्मा, नर्तकी अजीजन, रानी शिरोमणि, कुमारी मैना, अवंती बाई लोधी, मदाम भीकाजी कामा, महारानी द्विंदा, झलकारी बाई के नाम अनजाने नहीं रहे। सन् 1930-32 के असहयोग आन्दोलन में लगभग सत्रह महिलाओं के जेल जाने का औपचारिक आँकड़ा मिलता है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में ब्रिटिश सेना को तलवार की ताकत से परिचित कराने वाली प्रथम वीरांगना थीं मध्य प्रदेश के मंडला जिले के अन्तर्गत आने वाली रामगढ़ रियासत की महारानी अवंती बाई लोधी। उन्होंने अपनी रियासत से ब्रिटिश कोर्ट ऑफ वार्ड के अधिकारियों को निकालकर स्वतंत्रता संग्राम के युद्ध का बिगुल बजा दिया। अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए महारानी अवंती बाई ने ब्रिटिश सेना को नाकों चने चबवा दिये।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मुजफ्फर नगर की युवती आशा देवी का मानना था कि आजादी की लड़ाई में सिर्फ सैनिकों का लड़ना ही काफी नहीं है। बल्कि समाज में हर तबके के लोगों को कंधे से कंधा मिलाकर जंगे आजादी में शामिल होना चाहिए। इस क्रान्तिकारी सोच के तहत गूजरों के गाँव की इस साधारण-सी महिला ने महिलाओं को संगठित कर अपनी सेना बना ली। 1857 के संग्राम में इस वीरांगना युवती ने अंग्रेजों को काफी मुश्किलों में डाला और आसपास के क्षेत्रों में अपना दबदबा कायम कर लिया। लेकिन अंग्रेज सेना ने आशा देवी को पकड़ने के उपरान्त फाँसी पर लटका दिया था।

जहाँ एक तरफ आशा देवी ने महिलाओं को संगठित किया वहीं मुजफ्फर नगर की असगरी बेगम ने भी अपने आपको तथा अपने बेटे काजी अब्दुल रहीम खान को देश की आजादी के लिए कुर्बान करने का संकल्प ले रखा था। 1857 के संग्राम में माँ-बेटे दोनों ने अपनी मातृभूमि का सिर गर्व से ऊँचा किया और कई बार अंग्रेजों के छक्के छुड़ाये। असगरी बेगम की बहादुरी का आतंक अंग्रेजों के दिलों में इस कदर था कि जब उन्होंने असगरी को पकड़ा तो तुरन्त उन्हें जिन्दा जला दिया और इस तरह एक जिस्म को आजादी की कभी न बुझने वाली मशाल बना दिया।

1857 के विद्रोह की आग भड़क उठी थी। कानपुर की क्रान्ति का नेतृत्व नाना साहब पेशवा कर रहे थे। उन्होंने कानपुर की क्रान्ति की बागडोर अपनी बेटी मैना को सौंप दी। उस समय मैना की उम्र तेरह वर्ष थी। पेशवा

---

\* शोध-छात्र, डॉ. रामननोहर लोहिया अवधि विश्वविद्यालय, फैजाबाद (उत्तर प्रदेश)

को अपनी इस बेटी के साहस पर भरोसा था। क्रान्तिकारियों ने संगठित होकर अंग्रेजी छावनियों पर धावा बोल दिया। अंग्रेजों को मौत के घाट उतार कर कानपुर पर कब्जा कर लिया। अंग्रेजों की पराजय की सूचना जब इलाहाबाद पहुँची तो देखते ही देखते वहाँ से अंग्रेजी सेना कानपुर आ गयी और उसने कानपुर को घेर लिया।

अंग्रेजों की सेना से लड़ते-लड़ते मैना के हाथ से तलवार गिर गयी और शत्रुओं ने उन्हें बन्दी बना लिया। घटना के दूसरे दिन मैनां को खम्मे से बाँधकर अंग्रेजों ने आग के हवाल कर दिया। तेरह वर्ष की उम्र में वीर मैना संसार से विदा हो गयी लेकिन उसका बलिदान क्रान्ति के इतिहास में अमूल्य धरोहर बन गया है।

महारानी झिंदा को पंजाब की प्रथम क्रान्तिकारी महिला माना जाता है और उसकी वीरता के कारण उस समय उन्हें 'लाहौर की शेरनी' कहकर पुकारा जाता था। उन्होंने प्रण किया था कि अंग्रेजों को खदेड़कर ही वह दम लेंगी। यही कारण है कि उन्हें अंग्रेजों का सबसे बड़ा दुश्मन माना जाता था। महारानी झिंदा पंजाब के सरी महाराजा रणजीत सिंह की सबसे छोटी रानी थीं। जब महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु हो गयी तो पंजाब में खून की नदियाँ बह रही थीं। अंग्रेज पंजाब को अपना निशाना बनाये हुए थे। ऐसी विषम परिस्थितियों में महारानी झिंदा ने परदे से बाहर आकर अपनी सेना को संगठित कर अपने पाँच वर्षीय पुत्र दलीप सिंह को राजा घोषित कर शासन की बागड़ेर अपने हाथ में ले ली। उनकी वीरता को देखकर लार्ड डलहौजी ने कहा था "राज्य की सारी सैन्य शक्ति से भी रानी झिंदा कहीं अधिक शक्तिशाली हैं।"

झाँसी तथा आसपास के गाँवों से सेना में भर्ती होने के लिए हर उम्र के लोग रानी लक्ष्मीबाई के पास आ रहे थे। रानी ने स्थियों की सेना में भर्ती के लिए झलकारी बाई को यह उत्तरदायित्व दिया था। एक दिन ऐसा आया जब रणभेरी बज उठी। झलकारी तो युद्ध में उतरने को लालायित थी। 10 मई 1857 को मेरठ छावनी में भारतीय सैनिकों ने जो विद्रोह की शुरुआत की थी, उसकी चिंगारी झाँसी में भी पहुँची। झाँसी की बागड़ेर महारानी लक्ष्मीबाई के हाथ आ गयी। झाँसी में अंग्रेजों के सीने पर विद्रोहियों की यह जोरदार दस्तक थी।

बाद का दौर झाँसी में खून-खराबे का था। युद्ध का कहीं अन्त नहीं था। महल के भीतर-बाहर सभी जगह जंग छिड़ी थी। झलकारी बाई रानी लक्ष्मी बाई के बारे में चिन्तित थीं कि कहीं रानी अंग्रेजों के हाथ न पड़ जायें और ब्रिटिश सेना अपनी विजय पताका फहरा दे। झलकारी बाई की जोशीली वाणी ने स्थियों के रक्त को खौला दिया। उसके एक-एक शब्द तीर की तरह उनके हृदय में चुभ गये। चूँकि झलकारी बाई का चेहरा और व्यक्तित्व रानी लक्ष्मीबाई के समान था, इसलिए इसका फायदा भी हुआ। जब रानी लक्ष्मीबाई किले के भीतर थीं उस समय झलकारी बाई अंग्रेजों का संहार कर रही थीं।

जार्ज फ्रीमैन से लाला हरदयाल ने एक बार कहा था, "जब मैं भारत माता के साकार स्वरूप की कल्पना करता हूँ तो मेरी आँखों में जो छवि उभरती है वह है मदाम भीकाजी की छवि।" 1905 में भीकाजी कामा लंदन पहुँची। यहाँ क्रान्ति के विद्यालय यानी—'इण्डिया हाउस' के सम्पर्क में जब मदाम आयीं तो उनके भीतर की विद्रोहिणी को जैसे अनुकूल वातावरण मिल गया। दादा भाई नौरोजी से आगे चलकर उनका मोहभंग हुआ और वो श्याम जी कृष्ण वर्मा और सावरकर के सम्पर्क में आ गयीं। इण्डिया हाउस के क्रान्तिकारियों से उन्हें इतना अपनत्व मिला कि मदनलाल ढींगरा और सावरकर को वो अपना पुत्र ही मानने लगी थीं। यहाँ रहकर मदाम 'होमरूल सोसाइटी' की सदस्य बनी और श्याम जी कृष्ण वर्मा के 'दि इण्डियन सोशियोलाजिस्ट' की कालमिस्ट भी बन गयीं। दूसरी तरफ 'वंदे मातरम्' तथा 'मदंस तलवार' अखबार के माध्यम से भी ब्रिटिश सरकार के खिलाफ बगावत करने के लिए वह लोगों को उकसाती रहीं। वह भारतीय स्वाधीनता के संघर्ष का ऐतिहासिक छड़ था 18 अगस्त

1907 को जर्मनी के स्टुटगार्ड शहर में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में किसी भारतीय प्रतिनिधि ने स्वतंत्र भारत का राष्ट्रीय ध्वज फहराया और उसके सम्मान में सभी प्रतिनिधियों को खड़े होने के लिए अनुप्रेरित भी कर दिया। वह भी ब्रिटिश प्रतिनिधियों की मौजूदगी में।

सन् 1857 में जब अंग्रेजों ने अवध के शासक नवाब वाजिद अली शाह को गिरफ्तार कर कलकत्ता के मटिया बुर्ज में नजरबन्द कर दिया तो उनकी बेगम भारत की विख्यात वीरांगना हज़रत मैहल ने अंग्रेजों से मोर्चा लेने का मन बना लिया। बेगम हज़रत महल बड़ी बहादुर और सूझ-बूझ वाली महिला थीं। सारे अवध की जनता उनसे बेपनाह मोहब्बत करती थी और यही कारण था कि अवध की सारी जनता को अपने साथ लेकर उन्होंने अंग्रेजों से जबरदस्त मोर्चा लिया। लखनऊ के आलमबाग में अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये। उनके सामने अंग्रेजों के पैर उखड़ गये। अवध के हर जाति और धर्म के लोग उनके साथ थे। अंग्रेज मेजर हड्सन को मारने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी। इत्फाक से जीवन के इस अन्तिम युद्ध में वह उनके सामने पड़ गया। फिर क्या था बेगम शेरनी की भाँति उस पर झापट पड़ीं और उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। इस भयानक दृश्य को देखकर अंग्रेजी फौजें बुरी तरह बौखला गयी और हर कीमत पर बेगम को जिन्दा गिरफ्तार करने की कोशिश की। किन्तु बेगम ने अपनी चतुराई का परिचय दिया और नेपाल के काठमाण्डू नगर में अपना कदम रखा। वहाँ की जनता को जब इस वीरांगना के बारे में पता चला तो उन लोगों ने उन्हें बड़ा सम्मान दिया।

इस प्रकार वीरांगनाओं की उक्त गाथा आज की मारृ-शक्तियों के लिए प्रेरणा स्रोत हैं। इस देश की माटी में नारी-मर्यादाओं की वह गंध है जो दिग्-दिगन्त में महक विख्येरे हुए हैं। स्वातंत्र-पूर्व त्याग एवं बलिदान की प्रतिमूर्ति बनी ये नारियाँ आज अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हैं। गाँव से लेकर क्षितिज के उस शिखर पर अपना परचम लहरा रही हैं जिसकी परिकल्पना आजादी के पूर्व की वे बलिदानी वीरांगनाएँ अपने को उत्सर्ग होकर की थी।

फिर भी पुरुष-वर्चस्व को स्वीकारने के लिए नारियाँ विवश हैं। आज भी इस देश का विधान बहुसंख्य पुरुषों के बहुमत पर निर्भर कर रहा है। राजनीति में नारियों का पदार्पण हो चुका है किन्तु औसत, आवश्यकता से कम है। इस दिशा में कुछ और प्रयास की आवश्यकता है।

कुछ सुधार नारियों के गृहस्थ जीवन पर भी होना चाहिए। बच्चों के पालन-पोषण एवं चूल्हा-चौका से लेकर घर से बाहर सामाजिक सेवा के लिए भागते हुए समय को पकड़ना कठिन हो जाता है, जिससे स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। ऐसी परिस्थितिजन्य समस्याओं के समाधान के लिए नारी-पुरुष का समान योगदान भी आवश्यक है। इसके लिए सामंजस्य का सामाजिक विधान भी होना चाहिए।

इस देश में अधिकांश परिवार भूमिहीन हैं जिनके जीविकोपार्जन का पेशा मजदूरी है। मजदूरी करके पेट पालना शरीर ढकने के लिए वस्त्र का प्रबन्ध एवं दवा आदि के लिए बड़ी कठिनाई से प्रबन्ध हो पाता है, ऐसी परिस्थिति में बच्चों की शिक्षा की ओर उनका कम ध्यान जाता है। जिससे बेटियों की सामाजिक स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती है। इसके ऊपर शादी-व्याह का खर्च भी एक अलग समस्या। जब तक समाज के इन पिछड़े एवं गरीबों के बच्चों की स्थिति में सुधार नहीं हो पाता तब तक सम्पूर्ण नारी सशक्तिकरण की बात बेमानी होगी। इसके लिए सर्व शिक्षा अभियान तो चलाया जाता है किन्तु आशातीत सफलता नहीं मिल पा रही है। कारण यह है कि दो वक्त की रोटी की व्यवस्था में नाबालिग बच्चे भी लगे रहते हैं। तमाम प्रयासों के बाद भी बाल श्रमिकों की समस्या का समाधान नहीं हो पाता और वे तमाम घरों में अब भी मजदूरी करके अपनी आधी-अधूरी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, इस कार्य में अधिकांश महिलाएँ ही हैं।

इसके समाधान के लिए शासन की ओर से ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों में लघु उद्योगों की स्थापना करके इन्हें व्यवसाय देना चाहिए ताकि मजदूरी के लिए इन्हें इधर-उधर भटकना न पड़े। इस तरह आज जो एक खास वर्ग के नारियों का उत्थान हो रहा है वह सामाजिक समरसता की अधूरी सच है। सम्पूर्ण नारी उत्थान के लिए सामान्य एवं अन्तिम पायदान पर खड़े वर्ग की महिलाओं को जब तक पूर्ण अवसर नहीं मिलेगा तब तक नारी-सशक्तिकरण की अभिलाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती। राष्ट्र तभी सम्पन्न एवं शक्तिशाली बनेगा जब मातृ-शक्ति के महत्व को समझा जाय और इसके विकास में सम्पूर्ण राष्ट्र का योगदान हो।

### संदर्भ

- \* दैनिक जागरण, 26 जनवरी, 2007, आजादी के आन्दोलन में महिलाओं का योगदान—अनिल पाठक।
- \* कादम्बिनी, अगस्त 2006, पृ. 82
- \* वही, अगस्त 2004, पृ. 85-86, 101, 105-06

## भारत में गरीबी

-डॉ. विजय कुमार अग्रवाल\*

देश की प्रमुख समस्याओं में गरीबी की समस्या सर्वोपरि है। निर्धनता मानव जाति के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है। निर्धनता शब्द नया नहीं है। इसे सर्वप्रथम वर्ष 1876 में दादा भाई नौरोजी ने अपने लेख 'भारत में गरीबी' में उपयोग किया था। गरीबी एक सामाजिक बुराई है, जिससे समाज का प्रत्येक वर्ग किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होता है। देश में लाखों लोग ऐसे भी हैं जो दोनों समय भरपेट भोजन नहीं कर पाते, तन ढँकने के लिए कपड़े नहीं हैं, सिर ढँकने के लिए किसी व्यवस्था के अभाव में झोपड़पट्टी या फुटपाथों पर अपनी जिन्दगी बिता देते हैं। निर्धनता से तात्पर्य उस अवस्था से है—जब समाज का एक वर्ग अपने जीवन, स्वास्थ एवं कार्यकुशलता के लिए अनिवार्य न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने में अपने को असमर्थ पाता है। गरीबी को परिभाषित करने का प्रयास सभी देशों में किया गया है, लेकिन सभी ने न्यूनतम या उचित जीवन स्तर प्रदान करने पर बल दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार जिनकी आय 2 डॉलर प्रतिदिन से कम है वह निर्धन व्यक्ति है तथा जिनकी आय एक डॉलर से कम है, वे अति निर्धन हैं।

गरीबी दो प्रकार की होती है : 1. सापेक्ष या तुलनात्मक गरीबी, 2. निरपेक्ष या असम्बन्ध गरीबी।

**1. सापेक्ष या तुलनात्मक गरीबी :** सापेक्षिक गरीबी से आशय विभिन्न वर्ग के लोगों में प्रदेश या दूसरे देशों की तुलना में पायी जाने वाली गरीबी से है। प्रत्येक व्यक्ति जिसके पास दूसरे व्यक्ति के मुकाबले कम सम्पत्ति है वह निर्धन है। सम्पत्ति में व्याप्त इस प्रकार की असमानता को मिटाना पूरी तरह सम्भव नहीं है। यह निम्न सारिणी से स्पष्ट है :—

**प्रमुख देशों में निर्धनता अनुपात  
( 1 डॉलर प्रतिदिन से नीचे जनसंख्या )**

देश	वर्ष	निर्धनता अनुपात %
यू. के.	1999	2.9
श्रीलंका	1995	6.6
द. अफ्रीका	1993	11.5
चीन	1999	18.8
तंजानिया	1993	19.9
पाकिस्तान	1996	31.0
नेपाल	1995	37.7
भारत	1997	42.2
नाइजर	1995	61.4
नाइजीरिया	1997	63.9
जाम्बिया	1998	70.2
माली	1994	72.0

\* रीडर वाणिज्य विभाग, लाल बहादुर शास्त्री महाविद्यालय, गोण्डा (उत्तर प्रदेश)।

**2. निरपेक्ष या असम्बन्ध गरीबी :** इसमें जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं की न्यूनतम मात्रा निर्धारित की जाती है और इन्हें रूपयों के रूप में परिवर्तित करके आवश्यक आय या प्रति व्यक्ति उपयोग व्यय की राशि ज्ञात की जाती है। यदि व्यक्ति जो न्यूनतम निर्धारित स्तर से भी कम स्तर का उपयोग व्यय करता है, वह निर्धनता रेखा/गरीबी रेखा से नीचे माना जाता है।

भारत में 1999-2000 की कीमतों पर 3936 रुपये वार्षिक ग्रामीण क्षेत्रों में तथा 5448 रुपये शहरी क्षेत्रों में वार्षिक उपयोग को निर्धनता रेखा माना गया है। जिन लोगों का प्रति वर्ष उपयोग व्यय इससे कम है उन्हें निर्धन माना जाता है। योजना आयोग द्वारा गठित विशेषज्ञ दल के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति 2400 कैलोरी प्रतिदिन का पोषण प्राप्त न करने वाला व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे माना जाता है। परन्तु बाद में गरीबी की परिभाषा में संशोधन किया गया है, जिसमें ग्रामीण क्षेत्रों में 11060 व शहरी 11850 रुपये प्रति वर्ष वार्षिक उपयोग व्यय का मानदण्ड माना गया है। 24 फरवरी 1999 को संसद में सरकार ने जो विवरण प्रस्तुत किया है उसके अनुसार अधिकतम 1500 रुपये वार्षिक कमाने वाले व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे जीवन व्यतीत करने वाले माने जायेंगे।

### भारत में निर्धनता सम्बन्धी अनुमान

वर्ष	ग्रामीण क्षेत्र		शहरी क्षेत्र		सम्पूर्ण भारत	
	संख्या (मिलियन में)	निर्धनता (% में)	संख्या (मिलियन में)	निर्धनता (% में)	संख्या (मिलियन में)	निर्धनता (% में)
1973-74	261.3	56.4	60	49.0	321.3	54.9,
1977-78	264.4	51.3	64.6	45.2	329.9	52.3
1983-84	252.0	44.7	70.9	40.8	322.9	44.5
1993-94	244.0	36.0	76.3	32.4	320.3	36.0
1999-2000	193.2	27.9	67.1	23.6	260.3	26.1
2007	170.5	21.01	49.6	15.1	220.1	19.3

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि 1973-74 में 321 करोड़ लोग निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे हैं, जबकि 1999-2000 में यह संख्या घटकर 26.1 करोड़ हो गयी है। इसी प्रकार 1973-74 में गरीबी का प्रतिशत 54.9% जो घटकर 1999-2000 में 26.1% तक रह गया है। और 2007 में 19.3% तक रहने का अनुमान है। लेकिन चीन और इण्डोनेशिया जैसे पूर्वी एशियाई देशों की तुलना में यह काफी नहीं है।

### भारत में गरीबी के कारण

भारत में राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण पर्याप्त मात्रा में खाद्य सामग्री प्राप्त नहीं होती, जिसके कारण कार्यक्षमता गिर जाती है, कार्य क्षमता कम होने के कारण आय कम होती है तथा व्यक्ति निर्धन रहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी गरीबी के हैं जैसे—कृषि का पिछ़ापन, जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि, औद्योगीकरण का अभाव, मूल्यों में तेजी से वृद्धि आर्थिक आधारभूत संरचना जैसे सड़क, बिजली, पुल, रेलवे आदि सुविधाओं का अभाव, राष्ट्रीय आय का असमान वितरण, कम उत्पादकता, राजनैतिक अस्थिरता, विदेशी आक्रमणों से खतरा, नियोजन के प्रति जागरूकता का अभाव, वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान का अभाव,

कुशल एवं ईमानदार प्रशासन की कमी, विदेशी मुद्रा की समस्या, योग्य साहसी क्षमता का अभाव, जातिवाद, धर्मवाद, पुरानी परम्परागत रुद्धियाँ, भाग्यवादिता, अशिक्षा एवं अज्ञानता आदि।

### गरीबी उन्मूलन को दूर करने के सरकारी प्रयास

ग्रामीण विकास तथा गरीबी उन्मूलन हमारे देश की विभिन्न योजनाओं के प्रमुख लक्ष्य रहे हैं। प्रारम्भ की तीन पंचवर्षीय योजनाओं में गरीबी उन्मूलन के लिए सरकार द्वारा कई प्रत्यक्ष कदम उठाये गये। चतुर्थ एवं विशेष रूप से पंचम एवं छठी योजना में गरीबी को कम रखने तथा इस दूर करने के लिए अनेक उपयोगी व्यवस्था की गयी। सातवीं एवं आठवीं योजनाओं में भी गरीबी उन्मूलन की बात जोरदार ढंग से कही गयी जबकि नौवीं योजना में गरीबी उन्मूलन का प्लान पुनः तैयार एवं गठित किया गया ताकि गरीबों की कारगरता एवं प्रभाव में सुधार लाया जा सके। दसवीं पंचवर्षीय योजना में वर्ष 2007 के लिए ग्रामीण और शहरी गरीबी के निर्धनता लक्ष्य क्रमशः 21.1% और 15.1% है।

### गरीबी उन्मूलन हेतु सरकार द्वारा चलाये गये कार्यक्रम

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही सरकार गरीबी उन्मूलन के प्रति सचेष्ट रही है। इसके लिए अनेक योजनाएँ शुरू की गयी हैं, जिन्हें निम्न पाँच श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है :—

( 1 ) कृषि विकास के लिए विशेष कार्यक्रम : जैसे सघन कृषि कार्यक्रम, अधिक ऊपज देने वाले बीजों का विकास कार्यक्रम, हरित क्रान्ति आदि।

( 2 ) समस्याग्रस्त क्षेत्रों के लिए कार्यक्रम : जैसे सूखे की सम्भावना वाले क्षेत्रों के लिए कार्यक्रम (डी. पी. ए. पी.), मरुस्थल विकास कार्यक्रम (Desert Development Programme) आदि।

( 3 ) कमजोर वर्ग के लिए विशेष कार्यक्रम : जैसे लघु एवं सीमान्त कृषक विकास कार्यक्रम, आदिवासी विकास कार्यक्रम, अन्त्योदय कार्यक्रम, ग्रामीण रोजगार का स्वरित कार्यक्रम, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम, भूमिहीन श्रमिकों के लिए ग्रामीण रोजगार गारण्टी कार्यक्रम, ग्रामीण युवा स्वरोजगार कार्यक्रम, ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं एवं बच्चों के विकास कार्यक्रम, स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना, ग्रामीण रोजगार योजना, प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना, स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना, शहरी मजदूर रोजगार कार्यक्रम।

( 4 ) राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम : राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना, राष्ट्रीय परिवार लाभ योजना, राष्ट्रीय मातृत्व योजना, वरिष्ठ पेंशन बीमा योजना, जीवन भारतीय महिला सुरक्षा योजना, जननी सुरक्षा योजना, महिला स्वाधार योजना।

( 5 ) निर्धनता उन्मूलन की अन्य योजना : सार्वभौमिक स्वास्थ्य बीमा योजना, वरिष्ठ पेंशन बीमा योजना, डॉ. अम्बेडकर शैक्षिक पारितोषिक योजना, जयप्रकाश नारायण रोजगार गारण्टी योजना, अम्बेडकर वाल्मीकि मलिन बस्ती आवास योजना, शिक्षा सहयोग बीमा योजना, मौलाना आजाद राष्ट्रीय छात्रवृत्ति योजना, हरियाली परियोजना, खेतिहर मजदूर बीमा योजना, बन्धक ऋण गारण्टी योजना, आश्रय बीमा योजना इत्यादि।

### निर्धनता दूर करने के उपाय

निर्धनता मानवता पर एक बड़ा अभिशाप है कि इसकी प्रकृति संचयी होती है और यह असमानता के साथ निकट सम्बन्ध रखती है। गरीबी उन्मूलन में जनसंख्या वृद्धि, शिक्षा बुनियादी सुविधाओं की कमी तथा पुरानी प्रशासनिक व वित्तीय प्रक्रियाओं जैसे अनेक प्रतिकूल पहलुओं के कारण बाधाएँ आती हैं। इन पहलुओं को ठीक

करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम को चलाना। इसलिए गरीबी दूर करने के कार्यक्रमों के साथ-साथ ग्रामीण विकास के अन्य कार्यक्रमों को भी चलाना होगा। भारत में गरीबी मिटाने के लिए गाँवों की गरीबी मिटानी होगी। इसके लिए स्थानीय साधनों का उपयोग करना होगा। विज्ञान व टेक्नॉलोजी का उपयोग करके गाँवों का समग्र रूप में विकास किया जाना चाहिए। गाँवों में कृषि, खनन, उद्योग, परिवहन व सामाजिक विकास एक साथ किया जाना चाहिए। गरीबी को दूर करने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

1. बुनियादी ढाँचे के विकास को सुदृढ़ बनाना होगा।
2. ग्रामीण क्षेत्र में संरचनात्मक एवं संस्थागत परिवर्तन लाने होंगे।
3. देश की विधानपालिका, न्यायपालिका एवं कार्यपालिका में उद्घटित व्यवहार को ग्रामीणोन्मुखी होना पड़ेगा।
4. विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी को निचले स्तर तक ले जाना होगा।
5. भूमि जोतों पर उच्चतम सीमा तथा भूमिहीन किसानों में कुछ वित्त सहित अतिरिक्त भूमि का आवंटन।
6. निर्धन वर्ग को सस्ती साख सुविधाएँ प्रदान करना ताकि वह स्व-रोजगार पैदा कर सकें।
7. निःशुल्क सामाजिक सेवाओं जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कौशल सिखाने की व्यवस्था का ग्रामीण एवं शहरी वर्ग के विस्तार।
8. गरीबी रेखा से नीचे वाले आय वर्गों का अलग-अलग भार दिया जाय, जिससे गरीबी रेखा से नीचे रह रहे विभिन्न लोगों के आय स्तरों पर पड़ने वाले प्रभाव का पता लगया जा सके।
9. सरकारी योजनाओं में सरकार और लाभार्थी के मध्य मध्यस्थों की संख्या अधिक है, उसे कम किया जाये जिससे लाभार्थी को योजना का पूरा लाभ प्राप्त हो सके।
10. गरीबी रेखा के नीचे रह रहे लोगों में कई स्तर हैं। अतः अलग-अलग स्तर की गरीबी के लिए अलग-अलग कार्यक्रम बनाये जायें।
11. अपाहिज, बीमार तथा उत्पादक रूप में काम करने में अयोग्य लोगों के लिए कुछ योजनाएँ बनायी जाय।
12. आम लोगों की मदद से जनसंख्या वृद्धि रोकना।

### संदर्भ

- \* भारतीय कृषि का अर्थतंत्र, डॉ. एन. एल. अग्रवाल, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर
- \* व्यावसायिक पर्यावरण, डॉ. बी. सी. सिन्हा, साहित्य भवन डिस्ट्रीब्यूटर्स, आगरा
- \* भारतीय अर्थशास्त्र, डॉ. के. एल. गुप्ता, नवयुग प्रकाशन, आगरा
- \* भारत की आर्थिक समस्याएँ, डॉ. चतुर्भज ममोरिया, साहित्य भवन डिस्ट्रीब्यूटर्स, आगरा
- \* वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट, 2003, पृ. 237, 2005-06
- \* आर्थिक समीक्षा, 2000-01

## भारतीय शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति का पद, बदलते राजनीतिक परिदृश्य में बदलती भूमिका

—विजय प्रताप मल्ल\*

यदि राष्ट्रपति पद की तरह किसी अन्य पद की खोज हम अपने प्राचीन एवं मध्यकालीन राजनीतिक व्यवस्था में करें तो हमें इस तरह के किसी अन्य पद का उल्लेख नहीं मिलता है। वास्तविक अर्थों में भारत में संवैधानिक शासन का सूत्रपात ब्रिटिश शासन के दौरान होता है। 1773 तथा 1784 के एक्ट द्वारा भारत में प्रशासन एवं न्याय की नियमित व्यवस्था स्थापित हुई। 1833 के एक्ट ने भारतीयों के लिये लोक सेवा एवं रोजगार के अवसर खोले। 1859 के एक्ट द्वारा कम्पनी के शासन के स्थान पर क्राउन का शासन स्थापित हुआ साथ ही अनेक नई संस्थाओं का उदय हुआ। 1861 के एक्ट से भारत में प्रतिनिधित्वक संस्थाओं का बीजारोपण हुआ, जिसे 1909 के एक्ट ने अधिक व्यापक बनाया। समय गुजरने के साथ ब्रिटिश सरकार के समक्ष नई चुनौतियाँ तथा भारतीयों की नई माँगे सामने आयी। अतः 1919 के अधिनियम के द्वारा कुछ नये प्रावधान किये गये। 1919 के अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय विषयों में भारतीयों के हाथ में आंशिक रूप से सत्ता हस्तान्तरित कर दी गयी। प्रान्तों को दिये गये गैर-आरक्षित विषयों को छोड़कर अन्य सभी विषयों पर भारत सचिव का नियंत्रण था। वास्तव में गैर-आरक्षित विषयों में भी लोक सेवा एवं वित द्वारा उसका महत्वपूर्ण नियंत्रण था। इस अधिनियम द्वारा भारतीयों की माँग को शांत करने के लिये केन्द्र में गैर-सरकारी बहुमत की द्विसंख्यात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की गयी जिसमें प्रश्न पूछने, विधेयक पर मतदान करने की व्यवस्था की गयी।

इस अधिनियम में की गयी इन लोकतांत्रिक प्राविधानों से अंग्रेजों के उपनिवेशवादी हितों के कार्य में बाधा उत्पन्न होने लगी। ऐसे में ब्रिटिश उपनिवेशवादी हितों को साधनों के लिए गर्वनर जनरल की शक्तियों में असाधारण वृद्धि की गयी। गर्वनर जनरल को सदन आहूत करने, भंग करने, दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करने की शक्ति प्रदान की गयी। कुछ विधेयकों को सदन में प्रस्तुत करने से पहले उसकी पूर्वानुमति आवश्यक कर दी गयी। इन विधेयकों में मुख्य रूप से सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी, सार्वजनिक राजस्व, भारत में ब्रिटिश प्रजा के धार्मिक अधिकार, नौ सेना एवं वायु सेना विधेयक सम्मिलत थे।

इन सबके अतिरिक्त गवर्नर जनरल को दोनों सदनों से स्वीकृत बिल को वीटो करने का अधिकार दिया गया। भारत में शासन करने के लिए उसे अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्रदान की गयी। इसके साथ ही उसे दोनों सदनों अथवा एक सदन में अस्वीकृत बिल को अपनी स्वीकृति से कानून बनाने की महत्वपूर्ण शक्ति प्रदान की गयी। विधायी ही नहीं वित्तीय क्षेत्र में उसे महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त थीं वह उस माँग को स्वीकार कर सकता था जिसे सदन अस्वीकृत कर चुका था। इसके अतिरिक्त आपातकाल में वह स्वेच्छा से खर्च के लिए अधिकृत था।

इस प्रकार गवर्नर जनरल अपने कौसिल सहित भारत का सर्वोच्च प्राधिकारी बन गया। उसकी स्थिति भारत में निर्विवाद रूप से सर्वोच्च हो गयी। भारत के किसी सदन में उसे नियुक्त एवं पदच्युति करने की शक्ति नहीं थी। गवर्नर जनरल जबाबदेह तो अवश्य था पर वह किसी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं था।

\* प्रवक्ता, राजनीति शास्त्र, जवाहरलाल नेहरू पी. जी. कॉलेज, बाराबंकी (उत्तर प्रदेश)।

1935 के अधिनियम से उसकी शक्ति और बढ़ गयी। वह भारत सरकार का 'कार्नर स्टोन' बन गया। उसमें सभी कार्यपालिका शक्तियाँ समाहित हो गयी। इस अधिनियम में एक महत्वपूर्ण व्यवस्था थी कि वह इन शक्तियों का प्रयोग स्वयं अपने अधिनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करेगा। इस अधिनियम में उसके स्वविवेक की शक्तियों को और विस्तारित किया गया।

इसी अधिनियम में व्यवस्था की गयी कि—वह स्वविवेक के कार्यों में किसी की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं होगा।

इस तरह स्पष्ट होता है कि जिस तरह भारत में स्वशासन की माँग एवं भारतीयों का दबाव बढ़ता जा रहा था वैसे-वैसे ब्रिटिश शासन इन माँगों को विभिन्न अधिनियमों के माध्यम से सतही तौर पर पूरा कर रह थी परन्तु अपने औपनिवेशिक हितों को पूरा करने के लिए गवर्नर जनरल को महत्वपूर्ण स्वेच्छिक शक्तियाँ प्रदान कर रही थी।

भारतीय दबाव के समक्ष झुकते हुए 12 अगस्त, 1946 को गवर्नर जनरल ने पं. नेहरू को अंतरिम सरकार के गठन के लिए आमंत्रित किया। 18 जुलाई, 1947 को भारत स्वतंत्रा अधिनियम स्वीकृत हुआ। इसी अधिनियम ने भारत को स्वतंत्र राज्य बना दिया और भारत के ऊपर से ब्रिटिश नियंत्रण समाप्त हो गया। संविधान सभा ने आगे जाकर इण्डिया ऑर्डर 1947 (प्राविजनल कान्स्टीट्यूशन) पारित किया, जिसके द्वारा भारत की कार्यपालिका उत्तरदायी सरकार के रूप में परिवर्तित हो गयी। इसी ऑर्डर के द्वारा गवर्नर जनरल को पूर्णतः संवैधानिक प्रमुख बना दिया गया। उसको प्राप्त विशेष शक्तियाँ, स्वविवेकाधीन शक्तियाँ, व्यक्तिगत शक्तियाँ समाप्त कर दी गयीं। इसी ऑर्डर में आगे कहा गया कि—“गवर्नर जनरल को उसके कार्यों में सहायता एवं परामर्श के लिए मंत्रिपरिषद होगी, जिसके परामर्श से वह कार्य करेगा। इसी आदेश से गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद मंत्रिपरिषद के रूप में परिवर्तित हो गयी।”

संविधान सभा में लम्बे वाद-विवाद के बाद आयंगर, मुंशी, नेहरू, अम्बेडकर के सहयोग से संसदीय शासन की स्थापना की गयी, जिसके शीर्ष पर औपचारिक कार्यपालकीय प्रधान के रूप में राष्ट्रपति पद की स्थापना की गयी। गवर्नर जनरल को प्राप्त अधिकार पूर्ण रूप से तो नहीं परन्तु आंशिक रूप से राष्ट्रपति को प्रदान किये गये। आज जिस तरह राष्ट्रपति संसद की बैठक बुलाता है, संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता करता है, संदेश भेजता है, विधेयकों पर स्वीकृति देता है, अध्यक्षता करता है तथा संकटकालीन शक्तियों का उपयोग करता है, इसकी एकमात्र झलक हमें गवर्नर जनरल की शक्तियों में मिलती है।

भारत में संसदात्मक शासन होने के कारण औपचारिक कार्यपालकीय अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति की कल्पना की गयी। अनुच्छेद 74 में कहा गया है कि संघ की कार्यपालकीय शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित होगी, जिसका प्रयोग वह मंत्रिमण्डल की सलाह से करेगा। संविधान में कहीं भी यह स्पष्ट रूप से उल्लेखित नहीं है कि राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की राय मानने के लिए बाध्य होगा। संविधान के मसौदे में ऐसा एक अनुच्छेद था परन्तु बाद में व्यापक बहस के उपरान्त उसे हटा दिया गया और राष्ट्रपति को बाध्यकारी प्रावधान से मुक्त कर दिया गया। आगे चलकर 42वें संशोधन द्वारा उसको मंत्रिमण्डल की राय मानने के लिए बाध्य करने का प्रयास किया गया, परन्तु 44वें संशोधन द्वारा यह दुष्प्रयास भी असफल हो गया।

संविधान सभा की बहसों से स्पष्ट हो जाता है कि नेहरू, अम्बेडकर राष्ट्रपति को संवैधानिक प्रमुख के रूप में देखना चाहते थे। आगे चलकर सर्वोच्च न्यायालय में 1955 में रामजवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य के मामले में स्पष्ट किया कि वास्तविक कार्यपालकीय शक्तियाँ मंत्रिपरिषद में हैं।

**सामान्यतः** यह माना जाता है कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के परामर्श से कार्य करेगा परन्तु ऐसी भी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जब देश-हित एवं संविधान-हित में स्वविवेक से कार्य करना पड़े। किंतु यही कारण था कि संविधान निर्माताओं में मंत्रिमण्डल के सलाह से कार्य करने के लिए बाध्य नहीं किया। कुछ लोग ब्रिटेन के राजा से राष्ट्रपति की तुलना करते हैं। उन्हें यह याद रखना चाहिए कि दोनों देश अलग-अलग हैं, दोनों की परम्पराएँ अलग-अलग हैं तथा कुछ स्थानों पर संवैधानिक प्रावधान भी अलग हैं। जहाँ इंग्लैण्ड में वंशानुगत राजतंत्र है वहीं भारत में गणतंत्र है, जहाँ इंग्लैण्ड में एकात्मक शासन है वहीं भारत में संघात्मक शासन है, जहाँ ब्रिटेन में संसद सम्प्रभु है और पारित विधेयक पर राजा सहमति देने के लिए बाध्य है वहीं भारत में राष्ट्रपति के पास निषेधाधिकार है। अतः भारत में ब्रिटेन की परम्परा का पालन पूर्णतः सम्मव नहीं है।

अनुच्छेद 75 में स्पष्ट किया गया है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा परन्तु इस अनुच्छेद में अन्य दिशानिर्देशों का अभाव है। भारत के पिछले 55 वर्षों के इतिहास में कई बार ऐसे अवसर आये जब किसी दल को बहुमत नहीं मिला ऐसे में नये प्रधानमंत्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। त्रिशंकु संसद की स्थिति में राष्ट्रपति स्वविवेक से जिस व्यक्ति को बहुमत के नजदीक समझता है उसे प्रधानमंत्री नियुक्त करता रहा है।

विगत एक दशक से अब आम चुनाव में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल रहा, राजनीतिक दल बदल, क्रास वोटिंग तथा नैतिकता का अवमूल्यन हो रहा है तो राष्ट्रपति पद का महत्व संविधान के संरक्षक, सरकार के मित्र तथा पथ-प्रदर्शक के रूप में बहुत बढ़ गया है। वह सदैव मंत्रिमण्डल के परामर्श से बाध्य नहीं है। ऐसी भी स्थिति हो सकती है जब संविधान की रक्षा के लिए परामर्श की अनदेखी करनी पड़े। उदाहरणार्थ बहुमत खो चुके मंत्रिपरिषद की विधायिका को भंग करने की सलाह। अतः वह स्वविवेक का प्रयोग कर संविधान की मूल भावना की रक्षा के लिए स्वतंत्र किया गया है। के. एम. मुंशी ने ठीक कहा है—

“राष्ट्रपति नाममात्र का प्रधान नहीं है बल्कि देश की एकता, संविधान की रक्षा तथा राजनीतिक अराजकता से रक्षा के लिए वह संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। उसका कार्य संसदीय सरकार को संसदीय अराजकता से सुरक्षित रखने तथा बहुमत की सरकार को संविधानिक प्रावधानों के उल्लंघन से रोकना है।”

आज आजादी के 57 वर्ष बीत जाने के बाद राजनीतिक परिदृश्य बदल रहा है। आज न तो सत्तारूढ़ दल के पास प्रचण्ड बहुमत है और न ही नेहरू, इन्दिरा जैसे करिशमाई नेता। अतः उनका प्रभाव राष्ट्रपति के ऊपर भी कम हुआ है। किंतु यही कारण है कि आज राष्ट्रपति अधिक सक्रिय, जागरूक एवं प्रभावशाली है। संविधान के रूप में डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने आम चुनाव से पहले हड्डबड़ी में राजनीतिक स्वार्थ के लिए लाये गये दलित ईसाई आरक्षण सम्बन्धी तथा चुनाव प्रचार अवधि कम करने सम्बन्धी अध्यादेश पर मंजूरी देने से मना कर दिया। उन्होंने चुनाव बाद अटलबिहारी बाजपेयी को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। जब वह बहुमत सिद्ध नहीं कर सके तो देवगौड़ा को आमंत्रित किया और दल-बदल रोकने के लिए केवल 12 दिन का समय दिया जबकि पूर्व में एक महीने का उदाहरण मिलता है। अगले राष्ट्रपति के आर. नारायणन ने संविधान के संरक्षक के रूप में प्रभावी भूमिका अदा की और अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग को रोकने का साहसिक प्रयास किया। उन्होंने उत्तर प्रदेश, बिहार में राष्ट्रपति शासन लगाने के प्रस्ताव को पुनर्विचार के लिए वापस कर दिया। संविधान समीक्षा के फैसले पर सार्वजनिक रूप से दुःख जताया और कहा कि संविधान नहीं, संविधान क्रियान्वित करने वाले लोग असफल हुए हैं।

राष्ट्रपति ए. पी. जे. कलाम पुराने राष्ट्रपतियों की परम्परा से एकदम अलग दिखायी पड़ रहे थे। वे अलग परिस्थितियों में इस पद पर आसीन हुए थे और अत्यन्त सक्रिय राष्ट्रपति दिख रहे थे। शपथ ग्रहण के बाद गुजरात

दंगों का सुरक्षा कारणों की परवाह न करते हुए दौरा कर पीड़ितों को मलहम लगाने का कार्य अब तक 60 हजार से अधिक बच्चों से मिल 2020 तक विकसित भारत बनाने का सपना जगाने का अद्भुत कार्य किया है। उन्होंने राष्ट्रपति भवन में बन्द असक्रिय व्यक्ति के स्थान पर एक गतिशील, संवेदी व्यक्ति की छवि बनायी है। लोकायुक्त सम्मेलन में उन्होंने राष्ट्रपति को भी इसकी जाँच परिधि में शामिल करने का आवाहन कर नयी मिसाल कायम की थी। वर्तमान राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा पाटिल भी एक सक्रिय व्यक्तित्व की हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि राष्ट्रपति की भूमिका अपने मंत्रिमण्डल के लिए मित्र, दाशनिक, पथ-प्रदशकी की है। उसकी स्थिति न तो ब्रिटिश राजा और नहीं अमेरिकी राष्ट्रपति की तरह वरन् भारतीय परिस्थिति के अनुरूप एकदम अलग है। कठिपय यही कारण था कि संविधान निर्माताओं ने मंत्रिपरिषद की सलाह से बाध्य होने वाले उपबन्ध को संविधान में स्थान नहीं दिया। कठिपय यह विशिष्टता राष्ट्रपति को उन आकस्मिक, अकाल्पनिक स्थितियों से निपटने के लिए है जहाँ राष्ट्रपति आवश्यकता पड़ने पर भारतीय लोकतंत्र, भारतीय संविधान तथा संसदात्मक शासन के आदर्शों की रक्षा में सक्रिय भूमिका अदा कर सके।

वह भारतीय संविधान का संरक्षक है, भारतीय नागरिकों के आशा का केन्द्र है। आज के अनैतिक, मूल्यविहीन, भ्रष्टाचारी, पदलोलुप, संकीर्ण राजनीति के दौर में जहाँ पूर्ण बहुमत एवं स्थाई सरकारों का अभाव है, संसदीय लोकतंत्र पर ही प्रश्न किये जा रहे हैं तथा नित नये राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं संविधान की धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं। वहाँ राष्ट्रपति की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। वह उस रैफरी की तरह है जो राजनीति के खेल में संवैधानिक नियमों का पालन सुनिश्चित कराये। कठिपय यही कारण था कि भारत के पूर्व राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण ने अपनी पुस्तक 'मार्ई प्रेसिडिन्शियल ईयर' में लिखा है—

“राष्ट्रपति का दफ्तर उस इमरजेंसी लाइट जैसा है जो संकट के समय अपने-आप कार्य करने लगता है और संकट समाप्त होते ही अपने आप पृष्ठभूमि में चला जाता है।”

## संदर्भ

- \* हमारा संविधान, सुभाष कश्यप।
- \* भारत का संविधान, दुर्गदास वसु।
- \* भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारतीय गणतंत्र का संविधान, डॉ. ऋषिकेश सिंह।
- \* भारतीय संसद, ए. बी. लाल।
- \* भारतीय संविधान, एम. बी. पायली।
- \* भारतीय संवैधानिक विधि, एम. पी. जैन।

## महर्षि पाणिनी : आवृत्त और यथार्थ

-डॉ. मंशाराम वर्मा\*

विश्व की अत्यन्त प्राचीन और अनेक भाषाओं की जननी संस्कृत भाषा प्राचीनकाल से लेकर अद्ययावत भारतीय संस्कार और ज्ञान-गौरव की कहानी कहती है। विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद इसी भाषा में निबद्ध है। अधिकांश विद्वानों की यह स्पष्ट धारणा है कि यदि कोई संस्कृत भाषा पर अधिकार कर ले तो विश्व की अनेक भाषाओं पर उसका अधिपत्य अल्पायास से ही हो जायेगा। इस भाषा का सबसे बड़ा प्रयोजन यह भी हो सकता है कि अनेक देशों की सांस्कृतिक परम्पराओं तथा कला-कौशल आदि विद्याओं का आधार भारत और तत्कालीन उसकी भाषा संस्कृत ही रही है, इसलिए संस्कृत के ज्ञान से ही उसका ज्ञान सम्भव है। भारतीयों के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि उनकी समस्त धार्मिक व सांस्कृतिक परम्पराएँ इसी भाषा में निबद्ध हैं। भाषा वैज्ञानिक इसके ज्ञानाभाव में पंगु हो जाते हैं, और इतिहासवेत्ताओं के लिए यह उद्देश्य तक ले जाने वाली नौका के समान है।<sup>1</sup>

किसी भी भाषा के ज्ञान के लिए उसके व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। यह समस्त वेदों के अध्ययन में मुख्य के समान है।<sup>2</sup> इसी कारण कहा जाता है कि चाहे अन्य शास्त्र का ज्ञान किया जाय अथवा न किया जाय, किन्तु व्याकरणशास्त्र का ज्ञान अवश्य रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक कथा बहुत रोचक है—“एक बार एक धनाढ्य ने एक व्याकरणाचार्य को आमंत्रित किया। दरवाजे पर पहुँचने पर धनाढ्य ने कहा आइये श्वजन (तालव्य शकारोच्चारण जिसका अर्थ कुत्ता होता है) आइये। व्याकरणाचार्य व्यथित होकर सोचने लगा कि अज्ञानतावश उच्चारण दोष के कारण यह मुझे कुत्ता कह रहा है, जबकि इसे स्वजन (सम्बन्धी) उच्चारित करना चाहिए। भोजन करने का समय होने से व्याकरणाचार्य के समक्ष भोजन लाया गया। धनाढ्य ने कहा—शकल (तालव्य शकारोच्चारण, अर्थ-खण्डमात्र) भोजन ग्रहण कीजिए। व्याकरणाचार्य को यह निवेदन भी आघात कर गया, क्योंकि धनाढ्य को सकल (दन्त्यकार, अर्थ-सम्पूर्ण) उच्चारित करना चाहिए थी। इसी समय मिष्ठान् भी आ गया। धनाढ्य ने कहा—भवान् शकृत भक्ष शकृत का (तालव्य सकार) का अर्थ मल या विष्ठा होता है, जबकि धनाढ्य को दन्त्य सकार वाले सकृत (एक बार) उच्चारित करना चाहिए था। व्याकरणाचार्य बिना कुछ बोले ही उठकर चला गया। व्याकरण ज्ञानाभाव के कारण धनाढ्य व्याकरणाचार्य के चले जाने का कारण नहीं समझ पाया।” इसीलिए कहा गया है कि—

‘‘यद्यपि बहुनाथीषे तथाऽपि पद पुत्र व्याकरणम्।  
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलः शकलः सकृत्त्वकृत॥’’<sup>3</sup>

व्याकरण के आदि आचार्य महर्षि पाणिनि हैं उन्होंने “अष्टाध्यायी” जैसे अमूल्य व्याकरण ग्रंथ की रचना की है। उनके जन्म स्थान, उनके काल, ज्ञान और ग्रंथ आदि के विषय में विद्वज्जनों में अनेक भ्रान्तियाँ हैं, जिनको जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करना इस संक्षिप्त शोध का उद्देश्य है, जिससे यथार्थ का पता लगाया जा सके।

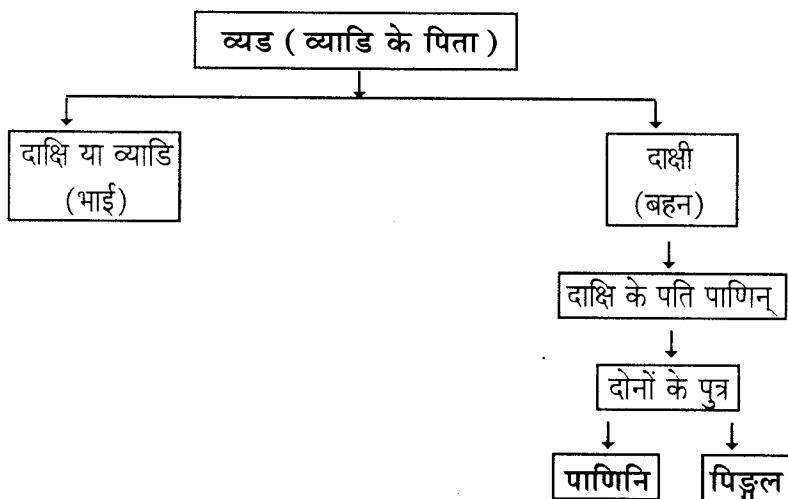
\* प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, लाल बहादुर शास्त्री स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोण्डा (उत्तर प्रदेश)।

सचिव, इण्डियन लेबोरेटरी ऑफ सोशल साइंसेज एण्ड सोसाइटीज

आचार्य पाणिनि का नाम संस्कृत व्याकरण के इतिहास में चिरातनज्योतितुल्य है। उनके जीवन-चरित के विषय में प्रामाणिक सामग्री का अत्यन्त अभाव है। पतञ्जलि के महाभाष्य<sup>4</sup> से पता चलता है कि इनकी माता का नाम दाक्षी था। इनके प्रचलित नाम पाणिनि के विषय में विद्वानों में मतवैभिन्न्य है। कारण है कि इनके नाम (पाणिनि) के कई पर्यायवाची शब्द गिनाये गये हैं, जिसको आचार्य पुरुषोत्तम देव ने त्रिकाण्डशेष में इस प्रकार गिनाया है— (1) पाणिन, (2) पाणिनि, (3) दाक्षीपुत्र, (4) शालंकि, (5) शालातुरीय, (6) आहिक<sup>5</sup>। दाक्षीपुत्र नाम से भी प्रमाणित हो जाता है कि इनकी माता का नाम दाक्षी ही था। इनके पिता के नाम के विषय में भी कोई निश्चित जानकारी नहीं मिल पाती। कैयट ने पाणिनि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी है—पाणिन् का पुत्र पाणिन और पाणिन का पुत्र पाणिनि<sup>6</sup>। कुछेक विद्वान् पणिन् शब्द से इनके पिता के व्यवसाय का अनुमान करते हैं कि इनके पिता एक व्यापारी थे। उपरोक्त व्युत्पत्ति के अनुसार इनके पिता का नाम पाणिन थ। दूसरे लोगों की मान्यता है कि पणिन एक मुनि थे, और उनका पुत्र पाणिनि हुआ। इसी के आधार पर एक अन्य व्युत्पत्ति भी दी गयी—‘पाणिनः मुनिः। पाणिनस्य युगः पाणिनिः।

श्री युधिष्ठिर मीमांसक द्वितीय मत को ही अधिक प्रामाणिक और उपयुक्त मानते हैं, और पाणिनि के पिता का नाम पाणिन् मानते हैं। पाणिन् को ही पणिन भी कहते हैं।<sup>7</sup> युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार पाणिनि के मामा का नाम व्याडि था। यह ज्ञातव्य है कि व्याडि ने ही पाणिनीय व्याकरण के दार्शनिक पक्ष पर एक लाख श्लोकों वाला ‘संग्रह’ नामक ग्रंथ रचा था। यद्यपि कि यह ग्रंथ पिछली कुछ शताब्दियों से लुप्तप्राय-सा हो चुका है। प्रो. बनारसी त्रिपाठी के अनुसार संग्रह में व्याडि ने पाणिनि के व्याकरण के चौदह हजार विषयों का उल्लेख किया था।<sup>8</sup> यह भी ध्यान देने योग्य है कि व्याडि के दो नाम और मिलते हैं (1) दाक्षि और (2) दाक्षायण।

क्योंकि पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था, इसलिए उसका भाई दाक्षि या दाक्षायण हो सकता है। इससे भी प्रतीत होता है कि व्याडि पाणिनि के मामा ही थे। कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि ‘छन्दःसूत्र’ के निर्माता आचार्य पिङ्गल पाणिनि के छोटे भाई थे।<sup>9</sup> यदि उनके वंशक्रम पर ध्यान दिया जाय तो संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—



कथासरित्सागर में पाणिनि को जड़बुद्धि कहा गया है और उनके गुरु का नाम वर्ष बताया गया है।<sup>10</sup> किन्तु कथासरित्सागर का यह कथन अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है क्योंकि एक तो यह कई शताब्दी बाद की रचना है, और दूसरे इसमें कात्यायन, व्याडि और इन्द्रदत्त को पाणिनि का सहपाठी बताया गया है, जो कि समय भेद के कारण सम्भव नहीं है। परम्परावादी पाणिनि के गुरु को ‘महेश्वर’ मानते हैं। नन्दिकेश्वर रचित ‘काशिका’ नामक ग्रंथ में भी पाणिनि को ज्ञान प्रदान करने वाला महेश्वर (शिव) को ही बताया गया है। ऐसा कहा जाता है कि पाणिनि

मुनि अपने साथी कात्यायन से शास्त्रार्थ में पराजित हो गये और आत्मगलानि से व्यथित होकर प्रयाग में अक्षयवट के नीचे जहाँ सनक आदि ऋषिगण तपस्या कर रहे थे, वहीं जाकर घोर तपस्या करने लगे। उनके कठिन तप से मुदित होकर आशुतोष भगवान महेश्वर (शंकर या शिव) ने ताण्डव नृत्य करते हुए अपना डमरू 14 बार बजाकर तपस्थियों का मनोरथ सिद्ध किया :—

“नृतावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।  
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेताद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥”<sup>11</sup>

शिव जी के चौदह बार डमरू बजाने से चौदह ध्वनियाँ सूत्र रूप में निकली जिसे माहेश्वर सूत्र कहा जाता है।<sup>12</sup> और उसी के आधार महर्षि पाणिनि ने ‘अष्टाध्यायी’ नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की और पुनः शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की। प्राचीनकाल में शिक्षा के दो प्रमुख केन्द्र थे—(1) तक्षशिला (पाकिस्तान) और (2) नालंदा (बिहार)।

राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ ‘काव्यमीमांसा’ में एक जनश्रुति का उल्लेख किया है कि पाणिनि की स्नातकीय विद्वता की परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई थी और उनकी ख्याति हुई।<sup>13</sup> इसके बाद इन्होंने शिक्षा प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। अत्यन्त सम्पन्न परिवार का होने के कारण ये छात्रों हेतु भोजन आदि की भी व्यवस्था करते थे, जिसके कारण कुछ छात्र भोजन के लालच में उनके शिष्य हो जाया करते थे। महाभाष्य में ऐसे शिष्यों को ‘ओदनपाणिनीयाः’ कहा गया है।<sup>14</sup> जो निन्दित अर्थों (केवल भोजन के लिए ही पाणिनीय व्याकरण पढ़ने वाले शिष्य के रूप) में प्रयुक्त शब्द था। पाणिनि ने अपने ग्रंथ ‘अष्टाध्यायी’ (को अपने अनेक शिष्यों को कई बार पढ़ाया था।<sup>15</sup> उनके एक शिष्य का नाम कौत्स था, किन्तु यह कालिदास के कौत्स से भिन्न है, जिसके गुरु वरतन्तु मुनि थे।<sup>16</sup> महर्षि पाणिनि का एक नाम शालातुरीय है। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि, काव्यालंडकारकार भामह तथा गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान<sup>17</sup> ने इनके पूर्वजों का निवास स्थान शालातुर नामक ग्राम माना है।<sup>18</sup>

इतिहासकारों एवं पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार यह स्थान वर्तमान में पाकिस्तान के उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त के निकट अटक के पास लहुर (जो शालातुर का अपभ्रंश है, और सम्भवतः लहुर शब्द ही आगे चलकर लाहौर रूप में व्यवहृत हुआ) के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। चीनी यात्री हेन्त्साङ्ग (थ्युआन् चुआङ्ग) सप्तम शताब्दी के आरम्भ में मध्येशिया से स्थल मार्ग द्वारा भारत आता हुआ इसी स्थान पर ठहरा था। उसने लिखा है—“उद्भाण्ड (ओहिन्द) से लगभग चार मील दूर शालातुर स्थान है। यह वही स्थान है जहाँ ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ था। वहाँ के लोगों ने पाणिनि की स्मृति में एक मूर्ति बनायी है जो अब तक मौजूद है।<sup>19</sup> पाणिनि के अन्तकाल के विषय में भी किंवदन्तियाँ और भ्रान्तियाँ हैं। पंचतंत्र के एक श्लोक के आधार पर एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वैयाकरण पाणिनि को एक जंगली शेर ने मारा था।<sup>20</sup> इसी श्लोक में जैमिनि की मृत्यु हाथी और आचार्य पिङ्गल की मृत्यु मगरमच्छ से बतायी गयी है। आज भी वैयाकरणों में यह प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु त्रयोदशी के दिन हुई थी। मास और पक्ष अज्ञात होने से प्राचीन परिपाटी के पण्डित प्रत्येक त्रयोदशी के दिन व्याकरण का अनध्याय मनाते हैं। इस विषय में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है।

महामुनि पाणिनि का काल अभी तक ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो पाया है किन्तु अनेक विद्वानों का कहना है कि उनका आविर्भाव भगवान बुद्ध से बहुत पूर्व हो चुका था, कारण कि भगवान बुद्ध के काल में जहाँ पालि और प्राकृत भाषाएँ जनसाधारण की भाषाएँ थीं, वहीं पाणिनि के काल में उदात्तादिस्वरयुक्त संस्कृत भाषा का ही जनभाषा होना अष्टाध्यायी के अनेक साक्षयों से सुतरां सिद्ध होता है।<sup>21</sup> श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने उनका काल लगभग 2800 ई. पू. माना है। किन्तु डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने उनका समय 5वीं सदी ई. पू. के मध्य निश्चित किया है और उन्हें नन्दराजा का समकालीन बताया है।<sup>22</sup> इस सबसे हटकर गोल्ड स्टूकर तथा रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर आदि ने पाणिनि का समय सातवीं ई. पू. शताब्दी माना है।<sup>23</sup>

आचार्य पाणिनि जैसा वैयाकरण संसार में अद्यावधि उत्पन्न नहीं हुआ। साङ्गोपाङ्ग वेद, उनकी शाखाएँ, ब्राह्मण, उपनिषद्, कल्प, ज्योतिष, इतिहास, कोश, काव्य-नाटक, नानाविधि देशीय या प्रान्तीय भाषाओं के सूक्ष्म-प्रभेदक-प्रबन्ध और न जाने कितना अन्य विशाल वाङ्मय उनके अध्ययन और मनन का विषय रहा होगा, जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रस्तुत शोध से यह बात निःसन्देह प्रतीत होने लगता है कि उनका वेद और लोक पर समानाधिकार था। अष्टाध्यायी में वे प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः सैकड़ों व्यक्तियों, ग्रंथों, ग्रामो, जनपदों और स्थानों का स्मरण करते हैं।<sup>24</sup> इससे स्पष्ट होता है कि उन्हें तत्कालीन इतिहास, परम्परा, साहित्य, कला, दर्शन, ज्योतिष आदि का पूर्ण ज्ञान था। यथार्थतः वे अलौकिक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व थे, जिनकी प्रशंसा पाश्चात्य विदेशी विद्वानों को भी करनी पड़ी।<sup>25</sup> निश्चय ही उनके जन्म से भारत का मुख चिरकाल तक उज्ज्वल रहेगा।

## संदर्भ

1. भैमी व्याख्या-लघु कौमुदी, 1993, पृ. 5
2. मुख व्याकरण सूत्रम्
3. भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 107
4. महाभाष्य 1/2/20, सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः
5. पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुः शालंकि पाणिनौ, शालातुरीयः
6. पाणिनोऽपत्यभित्यण पाणिनः, पाणिनस्यापत्यं युक्तेति इत्र पाणिनि, कैयट-प्रदीप 1/1/73।
7. संस्कृत व्याकरण और लघु सिद्धान्त कौमुदी, आचार्य कपिलदेव द्विवेदी-5, सं. 2002
8. पंचम संस्कृत पुनश्चर्या पाठ्यक्रम-व्याख्यान, दि. 7.2.2007, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
9. ऋक सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार षडगुरुशिष्य ने अपने वेदार्थदीपिका में लिखा है—‘तथा च सूत्रते भगवता पिङ्गलेन।
- पाणिन्यनुजेन-क्वचित्रवकाश्त्वार (पिङ्गलसूत्र-3.33) इति परिभाषा, पृ. 70।
10. अद्यकालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत। तत्रैकः पाणिनिर्नाम् जडबुद्धितरोऽभवत्-11, कथासरित्सागर-लम्बक-1, तरङ्ग-4, श्लोक संख्या-20।
11. नन्दिकेश्वर की रचना ‘काशिका’ से।
12. माहेश्वर सूत्र इस प्रकार है—अइउण्, ऋत्वक एओङ् ऐओ॒च् हयवरट्, लंण् जमडणनम्, झंभज् घठंष, जबगडदश् खफछठथ, चटतव् शषस- हल्।
13. श्रूते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—अत्रोपर्वर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षितः ख्यातिमुपजग्मुः॥ काव्यमीमांसा, अध्याय 10।
14. महाभाष्य, 1.1.73।
15. उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्र प्रतिपादिताः। केचिदाकडारादेका संज्ञा इति, केचित् प्राकडारात् पर कार्यमिति, (महाभाष्य, 14.1)।
16. महाभाष्य 32/08, रघुवंशमहाकाव्यम् 5/1।
17. शालातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः तत्रभवान् पाणिनिः, गणरत्नमहोदधि, वर्धमान, पृ. 1।
18. न्यासपर्यालोचन, भैमी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 45-46।
19. हेन्त्साङ्ग का भारत भ्रमण, इण्डियन प्रेस प्रयास, पृ. 108।
20. सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः, पंचतंत्र, मित्रसम्प्राप्ति, श्लोक संख्या 36।
21. पाणिनि ने उस समय की जनभाषा में व्यवहृत सूक्ष्म भेदों को भी अपनी अष्टाध्यायी में स्थान दिया है यथा— विपाश (व्यास) नदी के उत्तर की ओर वर्तमान कूपों के लिए आद्युदात्त ‘दात्त’ शब्द तथा दक्षिण की ओर वर्तमान कूपों के लिए अन्तोदात्त ‘दात्त’ शब्द का व्यवहार किया है। देखें पाणिनि सूत्र—उदक व विपाशः (4.2.73)। पाणिनि ने तत्कालीन लोक भाषा में प्रचलित अनेक मुहावरों का प्रचुर प्रयोग किया है यथा—कणोहत्य पयः।

- पिवति, मनोहत्य पयः पिवति (1.4.65), शश्योत्थाय धावति (3.4.52), यष्टिग्राह युद्धन्ते (3.4.53) इत्यादि।
22. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, युधिष्ठिर मीमांसक, पृ. 137।
  23. लघु सिद्धान्त कौमुदी, भैमी व्याख्या, प्रथम भाग, भूमिका, पृ. 7।
  24. यथा वासुदेवार्जुनाभ्या वुन् (4.3.98), कठचरकाल्लुक (4.1.107), पाराशार्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (4.3.110), लोपः शाकल्यस्य (8.3.19), ऋतो भारद्वाजस्य (7.2.63) इत्यादि।
  25. पाणिनीय व्याकरण मानव मस्तिष्क की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक है—लेनिनग्राड के प्रो. टी. शेरवात्सकी। —संसार के व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण सर्वशिरोमणि है। यह मानवीय मस्तिष्क का अत्यन्त महत्वपूर्ण आविष्कार है—सर डब्ल्यू. डब्ल्यू. हण्टर। —पाणिनि व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्वर्यतम् नमूना है जिसे किसी दूसरे देश ने आज तक सामने नहीं रखा—मोनियर विलियन्स।

## दृष्टि एवं सृष्टि की परिधि में संविकास

-डॉ मिथिलेश मिश्र\*

-डॉ एस. पी. सिंह\*\*

“यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे”<sup>1</sup> सूत्र इस रहस्य पर प्रकाश डालता है कि आब्रहस्तम्ब पर्यन्त जो ब्रह्माण्ड का अपरिमित विस्तार है वह ही अपने संक्षिप्त संस्करण में मानव पिण्ड (शरीर) के रूप में व्यक्त हुआ है। यह मानव पिण्ड और ब्रह्माण्ड प्रकृति के नैसर्गिक सूत्र से आपस में बड़े ही प्रगाढ़ रूप से अन्तसम्बन्धित है। तात्त्विक दृष्टि से यदि देखा जाय तो स्वयं ब्रह्म/सत्य अथवा चेतन सत्ता ही ब्रह्माण्ड अथवा व्यक्ति के रूप में व्यक्त हुआ है। चेतन सत्ता ही परम व चरम सत्य है और चेतन/ऊर्जा का उपादान कारक भी। प्रकृति के रूप में व्यक्त सम्पूर्ण जगत् इसी ऊर्जा से ही ओत-प्रोत है और उसकी विविधता इसी ऊर्जा का ही रूपान्तरण है। अर्थात् स्पष्ट है कि प्रकृति का जो व्यक्त स्वरूप है वह तो कार्य है किसी की अभिव्यक्ति मात्र। जबकि कारण सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ अपने महाकारण सत्ता में विलीन होता जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्त्वतः महाकारण सत्ता ही जिसे ‘अणोरणीयान्महतो महीयान्’<sup>2</sup> रूप में जाना जाता है इस समस्त सृष्टि रचना विधान के मूल कारण के रूप में विद्यमान है।

यह सत्य है कि विभेद का ही नाम संसार है और विभेद अथवा विविधता विविध प्रकार के प्राकृतिक (भौतिक-सांस्कृतिक) व भौगोलिक कारकों की ही देन है लेकिन तत्त्वतः ये सम्पूर्ण विभेद अपने अभेदमयी महाकरण में विलीन होकर एक ही हो जाते हैं। इस प्रकार विभेदात्मक स्वरूपों को समग्रता में ही देखने से कोई बात बन सकती है। जैसे शरीर की रचना के लिए पंच महाभूतों की एक समुचित व व्यवस्थित सूत्रात्मक उपस्थिति की आवश्यकता होती है अभाव में सृष्टि रचना की बात सोची नहीं जा सकती तथा उस रचित व्युधारी शरीर के संरक्षण व अस्तित्व के लिए आवश्यकता अनुकूलता आपेक्षित है, वैसे ही सम्पूर्ण संसार के सभी घटकों की सुव्यवस्थित व समुचित उपस्थिति समग्रता में ही आपेक्षित है। रहस्य की बात यह है कि संसार और शरीर दोनों एक ही हैं। यदि संसार बिगड़ जाये अथवा उसे बिगड़ दिया जाय तो शरीर को बिगड़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि जागतिक पंच महाभूतों की सूक्ष्म तन्मात्रात्मक अनुभूतियाँ ही जब बिगड़ जायेगी तो उससे अभिवर्धित होने वाला शरीर तो स्वतः ही विद्रूपित हो जायेगा। संसार और शरीर के प्रगाढ़ सम्बन्ध के पीछे इन्हीं तन्मात्राओं (पंचभूतों की सूक्ष्म अनुभूतियों) की ही अहम भूमिका होती है।

सर्वविदित है कि विकास एक प्राकृतिक क्रिया है लेकिन जैसे ही बुद्धि सम्पन्न मानव का व्यवहार प्रकृति से अपना तादात्य स्थापित करता है वैसे ही यह विकास अपने नैसर्गिक स्वरूप को खो देता है। ऐद्रियवादी व्यक्ति सांसारिक आकर्षण में पड़कर मानवीय मर्यादा खो देता है और अपने जीवन को मनमुखी सन्दर्भों से जोड़ देता है और उसकी यही मनमुखी वृत्तियाँ अन्ततः उसका पतन कर देती हैं। जिस प्रकार अनेक गरीब व विकासशील देशों में व्यक्ति समाज व देश पर भारी पड़ने लगे हैं अथवा भौतिकता की चालों में आगे निकल गये हैं वे विश्व के किसी भी विकासशील व अविकसित देश को अपने आर्थिक दुश्खों में फँसाने में (अपनी पीढ़ी-दर-पीढ़ी की

\* उपाचार्य, भूगोल विभाग, लाल बहादुर शास्त्री स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोण्डा (उत्तर प्रदेश)।

\*\* प्राचार्य, ठाकुर हुक्म सिंह किसान स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बहराइच (उत्तर प्रदेश)।

भौतिक, आर्थिक हैसियत व स्तर बनाये रखने हेतु) किसी भी प्रकार की अनैतिकता नहीं देखते। दुनिया के विकसित देश जिस निर्द्वन्द्वता से भौतिकता की मौज ले रहे हैं तथा शोष को पर्यावरण व पारिस्थितिकीय प्रबन्धन के नाम पर सीख व सिद्धान्त दे रहे हैं वह आज सभी प्रबुद्ध लोगों के चिन्तन की विषयवस्तु होनी चाहिए।

विकसित देशों की भौतिक पिपाशा ने जिस प्रकार उन्हें अमानवीय अथवा धूर्त बना दिया है यदि उस पर गम्भीरता पूर्वक विचार नहीं किया गया तो वह दिन दूर नहीं कि पूरा भारत देश निकट भविष्य में ही मात्र आर्थिक गुलामी ही नहीं ढोयेगा बल्कि यहाँ बड़ी ही चालाकीपूर्ण ढंग से उनके द्वारा इस भारतीय समाज पर साम्राज्यवादी संस्कृति वाले देशों द्वारा अपनी सांस्कृतिक व धार्मिक वृत्तियाँ भी लाद दी जायेंगी। देश के सामाजिक सन्दर्भों को संरचनात्मक दृढ़ता प्रदान करने के लिए यहाँ अपनाये जाने वाले सभी प्रयास निष्फल हो रहे हैं। नित नयी अवधारणाएँ अस्तित्व में आ रही हैं, उनकी भी सफलता के समक्ष बहुत बड़ा प्रश्नचिन्ह लगा हुआ है। आज हम उचित-अनुचित विचार किये बिना पाश्चात्य चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित प्रबन्धन व विकास की बातों को अपनाते हुए नित्य निरन्तर उनके चंगुल में फँसते जा रहे हैं और इसी रास्ते पर चलते रहने के कारण मूलतः हम अपने आत्मगैरव से विमुख होते जा रहे हैं।

आज यह तथ्य पूरी तरह से प्रकाशित हो चुका है कि विकसित राष्ट्रों ने मात्र विकासशील देशों की आर्थिकी को ही चौपट नहीं किया है बल्कि उसे सुधारने के नाम पर भी व्यापार किया है और उस सुधार की प्रक्रिया में इन गरीब देशों को ऐसा उलझाया है कि वे पूरी तरह से चौपट होकर विकसित देशों के हत्थे चढ़ गये हैं। अब तो वही इन विकासशील देशों के भाग्य-विधाता बन गये हैं और वहाँ के बौद्धिक चिन्तक इन गरीब देशों के चिन्तकों व प्रबुद्ध जनों के गुरु भी हैं। पाश्चात्य विकसित देश जहाँ विकासशील देशों के आर्थिक शोषण के दोषी हैं, वहीं पर पाश्चात्य बौद्धिक चिन्तक सतत् व शाश्वत रूप से इन गरीब देशों के प्रबुद्ध जनों को गुमराह करने के मामले में कम दोषी नहीं हैं।

भारतीय परिवेश में अपनायी जाने वाली समस्त विकास, प्रबन्धन, संरक्षण व संविकास की आवधारणाएँ विद्वप्ति परिणाम देने वाली हो गयी हैं अथवा प्रारम्भ में जहाँ कुछ आर्कषित करने वाली लगती हैं वहीं इन विकास उपागमों के दूरगामी परिणाम दुःखदायी ही सिद्ध होते गये हैं। ऐसे में हमारे देश के प्रबुद्धजनों के चरित्र व चिन्तन के समक्ष स्वतः ही एक बड़ा प्रश्नचिन्ह लग जाता है कि आखिर पाश्चात्य प्रणाली व तकनीक को अपनाकर भला अपने देश को किस प्रकार के विकास पथ पर ले जाना चाहते हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि हम विकसित देशों की नकल करके वहाँ के चिन्तकों के चिन्तन को अपने चिन्तन के केन्द्र में रखकर जो भी विकास करेंगे वह वास्तव में सापेक्ष ही नहीं अपितु हमें व हमारे देश को नकलची अथवा अनुगामी बनाकर ही छोड़ेंगे जो अन्तः हमारे पतन का कारण बन जायेगा। यदि हमें शक्तिशाली व आत्मनिर्भर बनना है तो हमें इन पाश्चात्य नीतियों की लाभकारी दिखने वाली प्रवृत्तियों से उपरत होना पड़ेगा।

विकास अथवा संविकास के सकारात्मक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आज हमने जिन पायदानों पर कदम रखा है उसका आधार क्या है? क्या ये प्रयास हमें हमारे लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक होंगे अथवा हम किसी भ्रम के शिकार हैं? इस विषय पर भी आज गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि हम जिन प्राविधियों अथवा प्रयासों को लेकर आगे बढ़ना चाह रहे हैं विकसित देश उससे बहुत आगे निकल गये हों। जैसा कि हम जानते हैं कि विकासशील देशों में जहाँ विकास की उन प्रक्रियाओं पर चर्चा की जाती है जिसका प्रतिपादन विकसित देशों द्वारा किया गया होता है, वहीं तब तक विकसित देशों के नीतियों, नियोजनों एवं विकास प्रक्रियाओं तथा उनसे सम्बन्धित चरित्र और चिन्तनों में काफी परिवर्तन हो चुका होता है। जैसे आज भारतवर्ष में जहाँ प्रबन्धन से विकास की प्रक्रिया को और चुस्त-दुरुस्त बनाने की प्रक्रिया पर चिन्तन हो रहा है वहीं विकसित देशों द्वारा आज

यहाँ कि अर्थिकी को नष्ट करने की योजना को क्रियान्वित करना प्रारम्भ कर दिया गया है। यहाँ की कृषि व औद्योगिक व्यवस्था को चौपट कर इस देश को अपने बाजार के रूप में परिवर्तित करने की उनकी सभी चालें आज सटीक बैठ रही हैं। हम सब उन विकसित देशों के प्रबुद्ध चिन्तकों द्वारा किये गये सिद्धान्तों पर चर्चा करने में मशगूल हैं जबकि वे लोग अपनी अभिनूतन स्वार्थपरक नीतियों पर अमल करते हुए बहुत आगे निकल गये हैं। ऐसी स्थिति में अधोलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देना अत्यावश्यक है :—

प्रबन्धन की इस विधा में व्यक्ति को चरित्र और चिन्तन की दृष्टि से स्वयं को इस प्रकार से ढालना होगा कि मिट्टी और जल के प्रयोग में इस बात पर दृढ़तापूर्वक ध्यान दिया जाय कि हमारा लक्ष्य मात्र अत्यधिक उत्पादनहीन हो बल्कि हमारी लक्ष्य में मिट्टी, जल और अन्य महाभूत पदार्थों को उनके आदर्शतम् स्थिति में बनाये रखना भी बना रहे। लाभ के साथ ही साथ मिट्टी और जल को उनके आदर्शतम् स्थिति में बनाये रखना भी हमारे आयोजन का लक्ष्य हो। जैसे एक केन्द्र पर दृढ़तापूर्वक चाप को रखकर छोटे-बड़े आवश्यकतानुसार वृत्त खींचे जाते हैं पर केन्द्र स्थिर रहता है। वैसे ही जल व मिट्टी ही जल, मिट्टी व प्रकृति के सभी उपादान कारकों की आदर्शतम् स्थिति को बनाये रखकर ही विकास/नियोजन के छोटे-बड़े लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में प्रयास होना चाहिए।

विकास की चरम उपलब्धियों का भव्य भवन किस काम का होगा यदि उसकी बुनियाद ही हिल जाये। ऐसा आवास किसी भी काम का न होगा क्योंकि बुनियाद को हिलाकर रख दिये जाने के बाद भव्य भवन के ढहने का खतरा हमेशा बना रहता है। यदि विकास प्रक्रिया से आधार अथवा आधारी तत्त्वों का ही विद्वृपण हो जाय तो उस विकास की वैज्ञानिकता क्या है? विकास संरक्षण, प्रबन्धन व संविकास प्रक्रियाओं का चरम उद्देश्य है सुख और शान्ति। यदि इन प्रक्रियाओं से बहुत कुछ पाकर भी व्यक्ति अशांत हो उठे और इस अशांति को भुलाने के लिए उसे अनन्त भौतिक साधनों (यथा—मदिग, सिगरेट जैसी अन्य मादक वस्तुओं) की आवश्यकता पड़े तो आखिर इस प्रक्रिया की सार्थकता क्या है?

क्या सकारात्मक विकास का ठेका मात्र पाश्चात्य चिन्तकों, नियोजकों, नीति-निर्देशकों व सरकारों के पास ही है? अथवा अन्य देशों व वहाँ के लोगों की कुछ जिम्मेदारियाँ बनती हैं तो हम क्यों उनके नकारात्मक चिन्तनों को अपनी स्वीकृत प्रदान कर उन्हें विकास करने का ठेका दे रहे हैं? यह सत्य है कि आज सम्पूर्ण संसार में विकास को प्रभावी बनाने के उद्देश्य से संविकास की नई अवधारणा को स्थापित करने/कराने का प्रयास किया जा रहा है और इनका प्रयोग स्थल स्वाभाविक रूप से भूमि, जल और वायु ही है। पर्यावरण व अन्य घटक तो इनमें रचे-बसे होने के साथ-ही-साथ थोड़ा इनसे पृथक भी हैं। उनमें इन क्रियाओं का प्रभाव धीरे-धीरे पहुँचता है। जबकि भूमि, जल एवं वायु मानव की प्रत्यक्ष क्रियाओं से प्रभावित होते हैं।

हम देखते हैं कि जैव जगत की रचना में प्रमुखता से इन्हीं तीन घटकों का योगदान रहता है। इन्हीं महाभूतों की सूक्ष्म अनुभूतियों अथवा तन्मात्राओं के माध्यम से विविध जैव जगत के शारीरिक संरचना का विकास होता है। इसी धरती से उद्भूत अन्न से ही जीवन के अन्नमय कोस की रचना होती है। यदि मिट्टी अथवा भूमि ही प्रदूषित होगी तो उससे उत्पन्न अन्न स्वमेव प्रदूषित हो जायेगा और इस प्रदूषण अन्न का प्रभाव जीव तथा उसकी काया पर स्पष्ट रूप से दिखायी देगा।

श्रीमद् भागवत् गीता में कहा गया है :—

अन्नादभवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न सम्भवः।  
यज्ञादभवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः॥  
कर्म ब्रह्मोदभवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।  
तस्मात्सर्वं गतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला है। कर्म समुदाय को तू वेद से उत्पन्न और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्व व्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार यज्ञ विधान में परमात्म स्वयं ही समाहित हुई है। यज्ञ की अवधारणा ‘शतहस्त समाहार सहस्रहस्त संकिर’ की त्यागमयी वृत्ति पर अवधारित है। अर्थात् संसाधनों को सौ हाथों से जुटाओ और उसे हजार हाथों में बाँट दो। संसाधन आने में देर भले लगे लेकिन उसके लोकहित अर्पण में देरी न हो। ऐसे यज्ञ विधान के भाव से ओतप्रोत जन इस सृष्टि में कभी भी विसंगतिपूर्ण स्थिति का निर्माण नहीं करते। क्योंकि ऐसे लोग विविध प्रकार के पापों से सर्वदा मुक्त होते हैं जैसे कि कहा गया है :—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तोऽमुच्चन्ते सर्वं किल्बिन्मैः॥...

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥<sup>4</sup>

“अर्थात् यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले ज्येष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो पापी लोग अपना शरीर पोषण करने के लिए ही अन्न पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं।”

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि मानव जाति की नहीं अपितु सभी प्राणियों के निर्माण व विकास में जिन उपादान कारकों की आवश्यकता पड़ती है वे सब-की-सब कुछ चेतन सत्ता द्वारा ही ओतप्रोत हैं। अतः ऐसे उपादान कारकों को संरक्षणात्मक सिद्धान्तों को मानने वाले लोगों को प्रदूषित व अपघटित करने का कोई भी नैतिक आधार प्राप्त नहीं है। ऐसे जन दोषी हैं जो समष्टि के प्राण तत्त्वों एवं उपादान कारकों को विद्वृष्टि करते हैं। भूमि, जल व वायु जैसे प्राकृतिक घटक सृष्टि रचना के आधारी तत्त्व तो हैं ही साथ ही साथ वे चेतन अथवा परमात्म सत्ता के साक्षात् विग्रह भी हैं। कहा गया है ‘कि सारा संसार प्राणमय है, प्राण से रिक्त कोई भी स्थान नहीं है और इस प्राण का स्रोत भगवान ही है। क्या कोई प्राण ले सकता, कोई देख या सुन सकता है यदि वह प्राणाधार परमात्मा प्राण को न फैलाता।’<sup>5</sup>

‘भू’ शब्द का अर्थ बताते हुए महर्षि दयानन्द ‘पंचमहायज्ञ विधि’ में लिखते हैं—‘प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः सः प्राणः प्राणादयि प्रिय स्वरूपो वा स चेश्वर एव’—जो सब प्राणियों का जीवनदाता है, और प्राण से भी प्यारा है वह परमेश्वर भू नायक है।<sup>6</sup>

वस्तुतः ब्रह्म ही भू रूप में व्यक्त हुआ है और वही तो ‘प्राणस्य प्राणः’ प्राण का प्राण कहा गया है।<sup>7</sup>

कठोपनिषद में कहा गया है कि ‘स उ प्राणस्य प्राणः वह प्राण का प्राण है।<sup>8</sup>

औपनिषदिक साहित्य में और भी लिखा है—

प्राण इति होवाच। सर्वाणि ह वा, इमानि भूतानि प्राणमेवामिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते।<sup>9</sup>

वह स्तुति का देवता प्राण है क्योंकि ये सारे भूत (प्राणी) उसी महाप्राण में लीन होते हैं और प्राण से बाहर निकलते हैं। इसलिए यह परम तत्त्व ही परमात्मा (प्राण अथवा प्राणधारी) है। ऐसा ब्रह्मसूत्र में भी कथन किया गया है—अतएव प्राणः।<sup>10</sup> यही भूतत्व ही प्राण (आत्मतत्त्व) और बल को प्रदान करने वाला है। यथा य आत्मदा बलदा।<sup>11</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि भू तत्त्व का माहात्म्य दर्शन महतो महीयान है।

इसी प्रकार जल तत्त्व का भी अति दिव्य स्वरूप है। जल को ही जीवन अथवा जीवनामृत के नाम से पुकारा गया है। सृष्टि रचना विधान में जल तत्त्व की अधिकता देखी जाती है। स्वस्थ शरीर में भी कभी-कभी जल की कमी हो जाती है तो कितनी विसंगति देखी जाती है। संसार का कोई भी ऐसा प्राणी अथवा जैव तत्त्व नहीं है जो परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से जल पर आश्रित न हो। इसलिए ऐसा माना जाता है कि जल है तो जीवन है। जल

के अभाव में किसी भी प्रकार के जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। मानव पिण्ड जिन पंच कोषों द्वारा निर्मित है। उनमें प्रथम कोष अन्नमय कोष है और इस अन्नमय कोष (जिसकी रचना अन्न द्वारा ही की जाती है) का आधारी तत्त्व पर्णन्य ही है। जीभः भगवत् गीता में कहा गया है, 'पर्जन्यादन्न सम्भवः।'<sup>12</sup>

जिस प्रकार पृथ्वी के दो तिहाई भाग को जल व्याप्त किये हुए है उसी प्रकार इस शरीर में भी जल तत्त्व की अधिकता है। मानव पिण्ड का अन्नमय कोश इसी जल तत्त्व के शुक्र, शोणित, लार, मूत्र व स्वेद से भरा हुआ है।<sup>13</sup>

वास्तव में यह मानव शरीर ही अन्न के जल व रसायनमय तत्त्व रज-वीर्य के संयोग से उत्पन्न हुआ है। जल की तन्मात्रा (सूक्ष्म अनुभूति) का नाम ही रस है। जबकि पृथ्वी की तन्मात्रा गंध है। पृथ्वी तत्त्व से अस्थि, मांस, नाड़ी, त्वचा और रोम तत्त्व का निर्माण होता है। इसी प्रकार वायु तत्त्व के चलते ही जैव जगत में धावन, चलन, बलन, प्रसारण और आकुंचन उपतत्त्वों की समुपस्थिति देखी जाती है। वेदों में परमात्मा का नाम मरुत भी आया है जिसका अर्थ भी प्राण है।<sup>14</sup> आकाशीय तत्त्व ही काम, क्रोध, शोक, मोह व भय की उत्पत्ति करता है। यह आकाश तत्त्व ही ध्वनियों का संसार है। शब्द तन्मात्रा आकाश तत्त्व की ही सूक्ष्मानुभूति है। इसी शब्द ध्वनियों को ब्रह्म भी कहा गया है। अध्यात्म जगत में इसी ध्वनि अथवा शब्द का आश्रय लेकर एक अद्भुत संसार रच लिया जाता है। इसी ध्वनि अथवा शब्द जगत में जब विकार आ जाता है तो इससे जो विकृति अस्तित्वमान होती है उसका निवारण कठिन हो जाता है। यह तेज अथवा अग्नितत्त्व ऊर्जा ही है, जिसका सतत रूपान्तरण होता रहता है। एक चेतना है और एक चेतन। चेतना बुद्धि को कहते हैं। आत्मप्रकाश ही चेतना है। चेतना निरन्तर बदलती रहती है। चेतना को ही ऊर्जा कहते हैं। ऊर्जा आत्मा की ही शक्ति है। यह तत्त्व आत्मा से अलग नहीं है। यह एक शक्ति है। शक्ति में परिवर्तन होता है। यह स्वतंत्र नहीं है। इसमें नियम है, नियंत्रण है। यह चेतन के नियम से कार्य करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर अथवा संसार की संरचना सुव्यवस्थित तभी माना जा सकता है, जब प्रकृति के समस्त घटक अपनी साम्यावस्था में ही रहें। विसंगति किसी भी प्रकार से क्षम्य नहीं है।

वास्तव में व्यक्ति अपने जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में सुख व शान्ति को ही रखता है। इन्द्रिय तल पर जो सुख भोग किया जाता है वह वास्तव में किसी न किसी साधन का ही आश्रय लेता है। अतः ऐन्द्रियवादी व्यक्ति इसी सुख भोग की इच्छा में पड़कर इन्हीं साधनों को प्राप्त करना ही अपने जीवन का लक्ष्य मान लेता है। इन साधनों के भौंवर में फँसा हुआ मनुष्य भटक जाता है और वह जीवन के परम लक्ष्य से ऐसा विमुख हो जाता है कि इन्हीं साधनों के संसार में उलझकर वह इस संसार व उसके आधारी तत्त्वों को ही विकृत कर देता है। उसकी बुद्धि उसे धोखा देती है। बिना परिष्कृत बुद्धि के व्यक्ति को वास्तविक सुख शान्ति नहीं मिल पाता है। बुद्धिनाशप्रणश्यति<sup>15</sup> सात्त्विक बुद्धि के अभाव में सामान्य बुद्धि जो वास्तव में जड़ जगत के विमर्श मात्र में ही उलझी होती है। वह जीवन के सकारात्मक लक्ष्यों को प्राप्त कराने में अक्षम ही होती है। इसलिए मनुष्य को परमात्मा से सदैव सद्बुद्धि प्राप्ति हेतु प्रार्थना करनी चाहिए। सब कुछ चला जाय लेकिन यदि बुद्धि का सद् स्वरूप बना रहे तो पुनः सब कुछ ठीक हो जाता है। साधना से विरत व्यक्ति सद्बुद्धि की कल्पना तक नहीं कर सकता, वह उसे बेकार की ही बातें लगती हैं। गीता में कहा गया है :—

**नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।  
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥<sup>16</sup>**

साधना रहित अर्थात् मनमुखी अथवा ऐन्द्रियवादी व्यक्तियों में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और इस अयुक्त (प्रभु से विमुख) मनुष्य के अन्तःकरण में आस्तिक भावना भी नहीं होती है और अभी आस्तिक भावना रहित व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती और शान्ति रहित व्यक्ति को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? कोई भी व्यक्ति समाज व राष्ट्र,

सुख व शान्ति के आधारी तत्त्वों को विकृत करके किसी भी दशा में सुख शान्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता। संसार की बहुत सारी सम्पत्ति जुटाकर भी व्यक्ति सुख व शान्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता। औपनिवेदिक कथन है 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो'<sup>17</sup> स्मरणीय तथ्य है कि—

न जातु कामः कामानामुयभोगेन शाम्यति।  
हविषा कृष्ण पत्मैव भूप एवामिवर्धते॥<sup>18</sup>

अर्थात् इच्छा प्राप्ति के साधनों के उपभोग से इच्छा कभी नहीं मिटती। जिस प्रकार आग में जितना ही धी डालो वह (अग्नि) बढ़ती ही जाती है। त्याग और विवेक के अभाव में व्यक्ति आज वैयक्तिक सन्दर्भों में इतना सिमट गया है कि उसे समष्टि हित की बात पर ध्यान देना कोरा बकवास लगने लगा है, जबकि मनुष्य होने के नाते उसके चिन्तन और चरित्र के केन्द्र में सर्वभूत हित ही होनी चाहिए। दूसरों के हित में अपना हित दूसरों के दुःख को देखकर दुःखी होने की प्रवृत्ति जब हममें उद्भुत होगी तभी हम मानवता के सच्चे सन्दर्भों को सकारात्मक गुणात्मक रूपान्तरण को धरती पर स्थापित करने में सफल हो पायेंगे। गीता में कहा गया है :— 'ने प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हिते रताः।'<sup>19</sup>

श्री अरविन्द का यह मत है कि जड़ द्रव्य (पदार्थ) तथा चेतन दोनों ही सतरूप हैं। ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या का सिद्धान्त वस्तुतः प्रभावी नहीं दिखता है। यद्यपि यह सिद्धान्त अन्ततः साधक को साध्य रूप ही बना देता है। साधना की इस व्यवस्था में 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' का बोध प्राप्त हो जाता है फिर भी व्यक्ति साधना के इस दुस्तर पथ पर बढ़ने में आज सर्वथा अक्षम दिखता है यद्यपि आज भी इसका पूर्ण अभाव नहीं है। लेकिन संख्या की दृष्टि से उनकी संख्या आज बहुत कम है। साधना के इस पथ पर चलकर योगी जड़ और चेतन के पार्थक्य बोध से उपरत हो जाता है। इसलिए कहा जाता है कि ब्रह्म वेदः ब्रह्मैव भवति।<sup>20</sup> इस अवस्था अथवा स्वरूप में पहुँचे हुए साध्य स्वरूप में परिणतः हुए साधक को भी सम्पूर्ण चराचर जगत अपना स्वरूप ही भासने लगता है अर्थात् सम्पूर्ण जड़ पदार्थ भी ब्रह्म का ही प्राकट्य हो जाता है। लेकिन वह सत्य है कि इस अद्वैत दृष्टि की सृष्टि रचना में जड़ द्रव्य (पदार्थ) की ओर से विरक्ति (अनुरक्ति) सहज हो जाती है। संयम की इस अवस्था तक स्वयं को उठाना इतना आसान नहीं रह जाता है। दृष्टि की यह ऊँचाई सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ही ब्रह्म की साक्षात् सद्गुप्त विग्रह में ही बदल देती है। साधना की यह विधा अप्रतिम साधकों की ही धरोहर तथा सम्पूर्ण रचना विधान अथवा उसके हित की चरम निरूपति है। यही भारत वर्ष की विश्वगुरुता का हेतु भी है।

व्यावहारिक जगत में अद्वैत दृष्टि का प्रायः निषेध होने लगता है ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या का सिद्धान्त एकांगी प्रतीत होने लगता है। ऐसी स्थिति में ऐसा भी कहा जाता सकता है कि जड़ और चेतन दोनों की ही उपेक्षा नहीं की जा सकती। जड़ तत्त्व का निषेध करने वाला आत्मवादी आत्मा को अस्वीकार करने वाला जड़वादी दर्शन दोनों ही एकांगी हैं। हमें उपनिषद्कालीन अपने ऋषियों के स्वर में कहना चाहिए कि अन्न ब्रह्मोति व्यजानात्। (अर्थात् अन्न अथवा अन्नमय कोश अथवा शरीर पदार्थ भी ब्रह्म है) जड़ और चेतन का विभेदीकरण करने से उसमें से किसी एक को प्रधानता देना अनिवार्य हो जाता है जिसका परिणाम है एकांगी जीवन दर्शन। सिर्फ ज्ञानेन्द्रियों एवं बुद्धि को ही ज्ञान का एकमात्र साधन स्वीकार करने के कारण जड़वादी आत्मा का निषेध कर देते हैं। यह दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण और विनाशपथगमी है। यही प्रेयस पथ है जिसकी चरम परिणति दुर्गति में ही होती है।

पाश्चात्य जीवन दर्शन में शरीर और संसार का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यक्ति और समाज पूर्णतः ऐन्द्रियवादी हैं। मनमुखी आचरण व्यक्ति को भोगी व विलासी बना देता है। फलस्वरूप वहाँ भोगवादी संस्कृति का ही बोलबाला है। पूरा का पूरा समाज प्रेयसगमी है। संसार व शरीर के तल से ऊपर की बात सोचना उन्हें कोरी गप/बकवास लगती है। आत्मानुसंधान की दिशा में वहाँ के कुछ लोग व्यक्तिगत स्तर पर भारत आकर साधनापथ पर चलकर

कुछ जाते हैं। ऐन्ड्रियवादी तल पर जीने के फलस्वरूप पाश्चात्य समाज के लोगों ने भौतिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अलौकिक अनुसंधान किये हैं। इन वैज्ञानिक खोजों ने वहाँ के मानव जीवन को निरान्त स्थूल व भौतिकवादी बना दिया है। हालाँकि यह सम्पूर्ण भौतिक विकास की वैज्ञानिक सूझा उन्हें चमत्कारिक रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद परिस्थितिवश प्राप्त हुई है। सभ्यता विकास की दृष्टि से 'भारत एक अति प्राचीन राष्ट्र' रहा है। इतना प्राचीन की जब इसका जन्म हुआ था तब दुनिया के अन्य भागों में रह रहे लोगों की आँखें भी नहीं खुली थीं। जब हम भारत के लोग लोक संस्कार द्वारा विश्वमंगल के लिए जीवनदर्शन और संस्कृति का निर्माण कर रहे थे, जब भारत का अभौतिक और भौतिक विकास और यहाँ की संस्कृति शिखर पर था तब वे आज वे तथाकथित सभ्य देशों के लोग अपने शरीर पर गुदना गुदाये और गुप्तांगों को पत्ती छालों से ढककर कन्दराओं में विचरण कर रहे थे, जब हम अपने 'गणदेवता' को छप्पन प्रकार का व्यंजन भोग लगाकर प्रसाद बाँट और प्राप्त कर रहे थे तब वे लोग कच्चा मांस खाकर अपना उदरभरण कर रहे थे।<sup>21</sup>

पाश्चात्य जगत की भौतिक सोच ने ही वहाँ की पारिस्थितिकी को इतना विकृत कर दिया कि पृथ्वी पर मानव जीवन ही नहीं अपितु अन्य प्रकार के जैविक जगत के स्वस्थ व नैसर्गिक विकास के अनुरूप नहीं रह गयी। सृष्टि रचना के समस्त उपादान कारकों में से अधिकांश कारक विद्युपित हो गये। जब आधारी तत्त्व ही विकृत व विद्युपित हो गया, कारण ही अवनति को प्राप्त हो गया तो उसे कार्य रूप में परिणत होना और वह भी सुधर रूप में स्वस्थ रूप में लगभग असम्भव हो गया। क्योंकि स्वस्थ विकास के लिए स्वस्थ वातावरण का होना अत्यन्त आवश्यक है और यही पर्यावरण प्रबन्धन का मूल मंत्र भी है। अरबिल के अनुसार—"A healthy mind in a healthy body in a healthy environment."<sup>22</sup>

वर्तमान विश्व में भौतिक विकास के जितने भी प्रतिमान गढ़े गये हैं वे सबके सब बुद्धिवाद अथवा बुद्धिविलास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इस बुद्धिवाद के चलते जड़वादी दृष्टि ने सत्य/चेतन सत्ता की उपेक्षा करके विकास की सारी प्रक्रिया को अधोगामी बना दिया है। जिस प्रकार चेतन सत्ता के स्थूल चिन्तकों ने अपनी कठिन साधना वाले संसार अथवा भौतिक सन्दर्भों की उपेक्षाकार अपने विकास को एकांगी बनाकर स्वयं की जीवन पद्धति को अव्यवहारिक बना दिया उसी प्रकार जड़वादियों ने चेतन सत्ता की उपेक्षा करके अपनी सम्पूर्ण विकास प्रक्रिया के समक्ष एक बहुत बड़ा प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। इसी जड़वादी दृष्टि ने आज वैश्विक फलक पर जिस प्रकार की सृष्टि की है उसके बारे में क्यूबा के राष्ट्रपति किंदैलकास्त्रो ने कहा है कि—

"आज की विश्व अर्थव्यवस्था जितनी शोषण और लूट पर आधारित है उतनी मानव जाति के इतिहास में कभी नहीं थी।" आज विश्व अर्थव्यवस्था एक प्रचण्ड बड़े कैसिनों जुआघर जैसी है। कहा जाता है कि व्यापार में जब एक डॉलर खर्च होता है तब एक सौ डॉलर से ज्यादा की हेर-फेर सट्टेबाजी की लेन-देन में होती है जिसका वास्तविक अर्थतंत्र के साथ दूर-दूर का सम्बन्ध नहीं होता है। मौजूदा अर्थतंत्र के परिणामस्वरूप विश्व की 75 प्रतिशत से अधिक आबादी आज भी अविकसित अवस्था में जी रही है। तीसरी दुनिया के देशों में कंगाली की अवस्था में जीने वालों की तादाद 1 अरब 20 करोड़ तक पहुँच गयी है। 1980 में सर्वाधिक धनाढ़्य देशों की आमदनी सर्वाधिक विप्रत देशों की आमदनी से 37 गुना अधिक थी। आज यह 74 गुना अधिक हो गयी है। अर्थात् गरीबी और अमीरी के बीच की खाई पटने के बजाय लगातार गहरी होती जा रही है। यह विषमता इस सीमा को पार कर चुकी है कि सर्वाधिक धनी मात्र तीन व्यक्तियों की आय सर्वाधिक गरीब 48 देशों की सम्मिलित राष्ट्रीय पैदावार के बराबर है।<sup>23</sup>

विकास की उपरोक्त विषमता के चलते तमाम कमज़ोर जनों के अस्तित्व का संकट खड़ा हो गया है। दुनिया के गरीब व विकासशील देश आज विदेशी ऋण की कमरतोड़ बोझ के तले पड़कर आज इस प्रकार असहाय

हो गये हैं कि उनके अपने बलबूते का किसी भी प्रकार का विकास अर्थहीन हो गया है। आज सद्वाखोरी, विदेशी पूँजी की शेय बाजारू हेरा-फेरी, विश्वबैंक मुद्रा कोष आदि की नीतियों में अमूलचूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

देखा जा रहा है कि दुनिया के गरीब व विकासशील देशों के चिन्तक विकसित देशों द्वारा सुझाये प्रतिमानों को अपने चिन्तन के केन्द्र में रखकर स्वयं को बुद्धि विलास में उलझा रखा है। इसी बहाने अच्छी खासी रकम कमाकर मौजमस्ती मना रहे हैं। दो बीघे खेती ढांग से नहीं कर पायेंगे लेकिन देश की दशा सुधारने को प्रतिबद्ध हैं। इन उलूल-जुलूल हरकतों ने भारत देश को कहीं-न-कहीं बहुत अधिक गहराई तक प्रभावित किया है। भारतवर्ष में ही आज मानव जाति का एक बड़ा हिस्सा कंगाल बनता जा रहा है। वर्तमान विकास/संविकास की व्यवस्थाओं से भी गरीबों, बीमारों, अशिक्षितों को तो नष्ट किया जा सकता है, उनका धर्म परिवर्तन कराकर उन्हें ईसाई आदि तो बनाया जा सकता है लेकिन इन प्रक्रियाओं से उनका वास्तविक विकास नहीं किया जा सकता। धनी देशों में जखीरों का जो अम्बार लगा है वह उनकी ज्येष्ठता व श्रेष्ठता का प्रतीक है जिससे वे बराबर भयादोहन कर रहे हैं। यहाँ यह भी कथनीय है कि विश्व की इस दानवी व अमानवीय विकास प्रक्रियाओं का दुष्प्रभाव गरीब व विकासशील देशों में खूब पड़ता है। इन देशों में विकसित देशों के समर्थन में बड़ी भारी संख्या में लोग फँसते जाते हैं और इस प्रकार अपने देश के अधिकांश भौतिक सम्पत्तियों के वे नाजायज मालिक बन बैठे हैं। इस फरेब व चालाकी भरे कारनामों को वे तत्त्वदर्शिता/होशियारी मानते हैं। स्वयं को शोषक व अपने अन्य भाइयों को शोषित के वर्ग में रखकर वे गैरवान्वित अनुभव करते हैं। इन गरीब व विकासशील देशों में भी एक छोटा विश्व स्थापित हो जाता है देश की 80 प्रतिशत हैशियत मात्र 20 प्रतिशत लोगों के हाथ में चली जाती है। उधर देश में संघृत समन्वित व सन्तुलित विकास की चर्चा भी होती रहती है। प्रबन्धन के नये-नये प्रतिमान गढ़े जाते हैं। इस प्रकार गुमराही की एक अनन्त शृंखला बढ़ती जाती है।

हाल ही में अमेरिका के राजदूत राबर्ट ब्लैकबिल ने भारतीय अमेरिकी व्यापारिक रिश्तों पर एक रिपोर्ट तैयार की है और इसे भाषण के रूप में फिक्की के फोरम से पढ़ा गया। यदि इस रपट पर आज सरकार ने गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया तो हमारी आर्थिक तरक्की सम्भव नहीं है। इसमें भारत को चेताया गया है कि “अब वक्त बाकी नहीं है।” अगर आपको आर्थिक तरक्की में शामिल होना है तो पूरी सोच बदलनी होगी। जल्द से जल्द कड़े फैसले लेने होंगे। काम की शैली बदलनी होगी तथा वक्त की बरबादी रोकनी होगी और सख्त कदम उठाने होंगे। ब्लैकबिल के लिहाज से विश्व अर्थव्यवस्था एक सुपरफास्ट ट्रेन की तरह है जो एक मिनट की लेट होने वाली नहीं है। अगर आप इस ट्रेन पर चढ़ने से चूक गये तो समझो आप पिछ़ड़ गये। फिर यह कहने का मौका नहीं रहेगा कि हम तो चढ़ने से चूक गये।<sup>24</sup> स्वाभाविक है कि यदि बिना सोचे विचारे विकास की इस सुपरफास्ट ट्रेन पर बैठना चाहेंगे तो इससे न केवल हाथ पैर ही टूटेगा वरन् यह प्राणघातक भी हो सकता है और यदि बैठे तो भी अस्तित्व समाप्त ही समझना चाहिए।

इस प्रकार हमारी स्थिति उस चूहे जैसी हो गयी है जो कोबेरे की फन की छाँव में बैठकर संधृत/टिकाऊ, भविष्य की कामना करता है अथवा शेर की माँद में बैठे हुए मेमने की तरह। आज हम समन्वित में अन्वित (बड़े-बड़े चालाक लोगों को छाँटकर) विकसित कर रहे हैं। सन्तुलित विकास के नाम पर ही असन्तुलित तथा संधृत विकास के नाम पर ही तड़ित व विद्युत विकास का कार्य करते जा रहे हैं। संधृत विकास आज एक शब्द जाल बन गया है। संविकास ने ही इंग्लैण्ड में Madcow disease से सारी दुनिया को आक्रान्त किया तथा दक्षिण पूर्वी एवं पूर्वी देशों में मुर्गी पालन व संवर्धन से उत्पन्न समस्याओं ने लोगों को बहुत कुछ सोचने को बाध्य किया है जैसे दुग्ध पालन हेतु किये जाने वाले व्यवसाय में व्यवसायी सुई लगाकर गायों से दो बेंत में ही पूरे जीवन का दुग्ध दुहकर गायों को दुधविहीन कर देते हैं। वैसे ही आज धरती, जलवायु व आकाश की दशा होती जा रही है। संविकास

की प्रक्रिया आज गोल्डेन एग के लिए एकाएक मुर्गी हलाल करने जैसा है। स्पष्ट है कि आज लोग अन्तःकरण के तल पर ही विषाक्त हो गये हैं। बिना अन्तःकरण की शुद्धि किये इस पर नियंत्रण पाना कदापि सम्भव नहीं है। पौर्वात्म्य (पूर्ववर्ती) राष्ट्रों में पाश्चात्य विकास दर्शन विनाश का ही पर्याय बन जाता है। विकास की सभी स्थितियाँ हमें सापेक्षता ही प्रदान करती हैं और जिसका चरम व परम उद्देश्य है भारत में नस्लवाद की स्थापना व संस्कृति विनाश।

गरीब व विकासशील देशों के तथा कथित प्रबुद्ध जन/नीति निर्माता/आयोजन व नियोजनकर्ता इस बात के दोषी हैं कि उन्होंने अपने देश के सभी लोगों को गुमराह कर स्वयं की तो बेहतर स्थिति बना ली, शेष अपने सभी देशवासियों को शिकार/शोषित/मोहताज की स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ एक खुराक भोजन, तन ढकने के लिए वस्त्र अथवा सिर छुपाने व आश्रय के लिए एक छत के लिए लोग अपने धर्म तक को छोड़ने को मज़बूर हो रहे हैं। आज महाविद्यालयों/विश्वविद्यालयों में ऐसे गुमराह करने वाले प्रतिमान पाठ्यक्रमों को शामिल कर सारे देश को गुमराह किया जा रहा है। आज समस्त शिक्षकों को स्थिति की गम्भीरता को देखना व निराकरण खोजना है।

संविकास के पूर्व अनुसंधानित प्रतिमान आज बौने सिद्ध हो गये हैं अथवा हमें भ्रमित करने वाले हैं। यदि हम विकास के लिए उनका आश्रय लिए बैठे रहें तब तक तो हम लूट जायेंगे। हम मानते हैं कि हमारी अन्धाधुन्ध पश्चिमी विकास की नकल ने हमारे परिस्थितिकी को प्रभावित किया है। जिसके चलते हम उसकी भयावह त्रासदियों की चर्चा में उलझ गये हैं। कहीं मिट्टी प्रदूषित हो उठी है तो कहीं फसल, कहीं वायु श्वास लेने लायक नहीं रही तो कहीं ध्वनियों का सरगम बिगड़ गया है। ऐसे में यहाँ कुछ उपाय सोचना व सुझाना स्वाभाविक प्रतीत होता है कि हम उनमें अपेक्षित सुधार करें। लेकिन यह क्या? बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की माने तो वे हमारी सभी राष्ट्रीय औद्योगिक सरोकार को चौपट कर देंगे। जिसके चलते हम स्वस्थ पर्यावरण से भी हाथ धो बैठेंगे और औद्योगिक ताने-बाने से भी। आज हम मात्र उपभोक्ता अथवा बाजार बन गये हैं और धीरे-धीरे कूड़ाघर में रूपान्तरित होते जा रहे हैं। हम देख नहीं रहे हैं कि हमको कोई लील रहा है। ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष मात्र दो ही विकल्प हैं। 1. या तो हम अपने को निगलने वाले को ही निगल लें जो वर्तमान परिवेश में लगभग असम्भव है। अथवा 2. हम अपने विकास की दिशा ही बदल दें। जो पाश्चात्य विकास की दिशा के विपरीत न हो तो अपेक्षित अन्तर अवश्य ही रखता हो। नहीं तो लीला जाना तो तय ही है। इस प्रकार की कोई भी विकास की दुनियाँ रचने के पूर्व हमें अधोलिखित मूलभूत संकल्पनाओं पर भी विचार करना आवश्यक होगा :—

1. संविकास की इस विधा में व्यक्ति को चरित्र व चिन्तन की दृष्टि से स्वयं को इस प्रकार ढालना होगा कि वह व्यक्ति/समाज/राष्ट्र इस बात पर विशेष रूप से ध्यान दे कि विकास का परम लक्ष्य मात्र उत्पादन वृद्धि ही न हो बल्कि आधारी उपादानों (मिट्टी, जल, वायु, ध्वनि जगत व ऊर्जा जगत) में विद्रूपण उत्पन्न न हो। हमारी विकास योजनाओं का परम लक्ष्य अपेक्षित स्तर तक उत्पादन बढ़ाना हो वहीं आधारी तत्वों की गुणवत्ता बनाये रखने का प्रयास किया जाना चाहिए।
2. नव्यकरणीय संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग पर अधिक-से-अधिक बल दिया जाय।
3. देश की पारिवाहनिक/अभियांत्रिक दशाओं को अपनी राष्ट्रीय क्षमता के अनुसार प्रबन्धित किया जाय। विदेश दबावों से मुक्ति का प्रयास करें।
4. समग्र विकास की दिशा में सार्थक पहल की जाय। किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष के समृद्ध होने से कोई राष्ट्र व समाज सशक्त नहीं होता, इस बिन्दु पर दृष्टापूर्वक चिन्तन किया जाय।

5. परिवर्धित व समुन्नत किये जा सकने वाले तत्त्वों को विवेकपूर्ण सीमा तक ही परिवर्धित करने का प्रयास किया जाय, नहीं तो इस समुन्नयन अथवा परिवर्धन की प्रक्रिया के चलते कालान्तर में नुकसान उठाना पड़ सकता है।
6. पारिस्थितिकी और विकास में एक नियात ही मर्यादित सम्बन्ध होना चाहिए जिसका निर्धारण किसी रेखा से नहीं अपितु सद्बुद्धि से किया जाय।
7. आसन्न खतरों अथवा सुखमय प्रतीत होने वाली परिस्थितियों के दूरगामी परिणामों की विधिवत समीक्षा की जाय, इस प्रक्रिया का कड़ाई से पालन किया जाय।
8. हमारे विकास का प्रतिमान एक स्वस्थ दुर्घटान करते हुए बछड़े-सा हो न कि नाग फड़ की छाया में भ्रमवश खुशी का अनुभव करते हुए चूहे की भाँति। (चित्र-विकास का बोधक प्रतिमान)
9. विकास/संविकास के छोटे या बड़े जैसे भी वृत्त खींचे जाने हों, खींचे जाय लेकिन परिधि के साथ ही साथ केन्द्र (आधारी तत्त्वों) को आदर्शतम स्थिति में बनाये रखने का सार्थक प्रयास किया जाय। इसमें भौतिक/जैविक/अजैविक सभी घटकों पर विचार किया जाय।
10. भारतीय आध्यात्मिक मनीषियों द्वारा सुझाये गये मार्गों का अनुसरण किया जाय। मात्र जड़वादी चिन्तकों के निर्देशों को उसी सीमा तक प्रश्रय दिया जा सकता है जहाँ तक आत्मिक सन्दर्भों को आघात न लगता हो।
11. स्मरणीय तथ्य है कि हम प्रेयस मार्ग की अपेक्षा श्रेयस मार्ग को प्राथमिकता प्रदान करें। हम अपने लिए ही नहीं अपनों के लिए भी जीना सीखें। अपने वे हैं तो वंचित व असहाय हैं। हमें संग्रह से अधिक त्याग पर ध्यान देना होगा।
12. यदि हम बहिर्जगत सुधारना चाहते हैं तो पहले अपने अन्तर्जगत को सुधारना सीखें। यह ज्ञान हमें जड़वादी चिन्तकों की पुस्तकों में नहीं मिल सकता। इस दिशा में हमें स्वयं ही अनुसंधान करना होगा। भारतीय वाङ्मय का चिन्तन/पठन, मनन व निदिध्यासन उपयोगी होगा।
13. हम मात्र इन्द्रियों के तल पर ही जीना न सीखें यह जो पाश्चात्य संस्कृति का सर्वश्व है। हम सुसंस्कारों से स्वयं को सुसज्जित करने का भी प्रयास करें। ये सुसंस्कार महापुरुषों द्वारा निर्देशित होने चाहिए। वे महापुरुष जो आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। ये कदम प्रतिगामी नहीं बल्कि सर्वकालिक व सार्वभौमिक आचरण के अनुकूल होंगे।
14. कार्य-कारण विश्लेषण में भी हम कारण को उसके अनन्त तल तक पकड़ने का प्रयास करें। हम अविज्ञात की गहराइयों में उतरना सीखें। ज्ञात से अज्ञात अधिक विराट है।
15. हम मित्र अथवा शत्रु को पहचानना सीखें। स्वार्थीजनों की मित्रता अन्त में अत्यन्त दुःखदायी होती है। अतः इस पर प्रारम्भ में ही विचार करना श्रेयस्कर रहेगा।
16. पारिस्थितिकी में सभी जैविकों का हक है किसी का हक मारकर आवश्यकता से अधिक साधन संग्रह को पौरूष अथवा पुरुषार्थ का पर्याय न मानकर इसे चोरी, ठगी अथवा अपराध माना जाय।
17. यदि एक भी व्यक्ति अज्ञानी जनों के सरकासी का शिकार होता हो तो उस व्यवस्था को जंगल राज्य ही समझना चाहिए।
18. मात्र जड़वादी चिन्तकों की बातों या निर्देशों को मानते जाना एक निकृष्टतम गुलामी के अतिरिक्त और

कुछ नहीं है। थोड़ी सी दृष्टि बदलने से सृष्टि में बदलाव आ सकता है। मत भूलो आप ऋषियों की सन्तान हैं। जैसी दृष्टि, वैसी ही सृष्टि होती है।

19. याद रखने व सतत चिन्तन करते रहने की बात है कि हमारी गुमराही और चुप्पी को स्वयं समय और इतिहास लिख रहा है। गुमराह होकर हम स्वयं को स्वयं के संस्कृति समाज व राष्ट्र को बचा नहीं पायेंगे। अतः समाज व संस्कृति की नब्ज को पहचानना आज वक्त की आवश्यकता है।
20. यदि पाश्चात्य चिन्तन ही आज उपयुक्त लगने लगा है तो आपके भारतीयता की क्या पहचान है? आपका अतीत इतना विद्रूप नहीं रहा है जितना आज चित्रित किया जा रहा है। स्वयं इसका अनुसंधान करें और देखें।
21. बुद्धि विलास से ऊपर उठने का प्रयास करें। विवेक अथवा प्रज्ञा का आश्रय लेना सीखें, स्वयं ही मार्ग प्रशस्त होता जायेगा।
22. W.C.E.D. और इसका Our Common Future अभियान GATT के बाद W.T.O., IMF अथवा World Bank से अलग नहीं है। वैश्वीकरण उदारीकरण और मुक्त व्यापार की तरह Our Common Future के माध्यम से भी शोषणपरक व धिनौना खेल खेला जा रहा है। आज इसे पहचानने की आवश्यकता है।
23. देश के प्रबुद्ध चिन्तकों को यह तथ्य पूरी तरह से सोचकर चलना चाहिए कि हमें मात्र भौतिक विकास करके ही अमेरिका व पश्चिम यूरोपीय देशों की तरह ही नहीं बनना है। उस दृष्टि से तो हम सदैव ही उनके अनुयायी बने रहेंगे। हमारे देश का विकास भारतीयता के अनुरूप होना चाहिए।
24. भावी सुदृढ़ विकास के लिए खनिज तेल पर आधारित विकास को कम से कम किया जाय। व्यक्तिगत कारों के उपयोग की जगह सामुदायिक परिवहन साधनों के उपयोग पर विशेष बल दिया जाय। इससे हम विकसित देशों के बाजार बनने से बचेंगे तथा एक बहुत बड़े खर्चे का बोझ हमारे सिर से उतर जायेगा। हम अपने संसाधनों के बल पर विकास करें विकसित देशों व विदेशी कृपा का भावी परिणाम अत्यन्त भयावह व विनाशकारी है।
25. शासन-प्रशासन में वाहन प्रयोग की नयी नीति बनायी जाय, यदि व्यवस्था को कम से कम कारों से जोड़ा जा सके तो इससे जनकल्याण होगा। कारों की मार से आज पूरा देश बेहाल होता जा रहा है।
26. पारिवारिक स्तर पर अधिक शक्तिशाली गाड़ियों का प्रयोग वर्जित किया जाय। नहीं तो अज्ञानी व झूठी शान व अकड़बाजी में जीने वाले लोग देश की आर्थिकी को तबाह कर डालेंगे। दूसरों का हक मारने में तनिक भी संकोच नहीं करेंगे।
27. ऊर्जा के नये स्रोतों जैसे—वायु, सौर, जल, ज्वार भाटे व परमाणु ऊर्जा के विकास पर अधिक-से-अधिक ध्यान दिया जाय।
28. परती व बंजर भूमि का प्रयोग विविध फसलों जैसे—ज्वार, बाजरा व मक्का के उत्पादन के लिए किया जाय। सिंचाई की सुविधा में सुधार लाया जाय। कृषि उत्पादन को वृद्धिपरक बनाने में गैरपारम्परिक रासायनिक उर्वरकों का सीमित प्रयोग ही किया जाय, नहीं तो विकास को हम संधृत स्वरूप नहीं दे सकते हैं। जेनेटिक परिवर्तन द्वारा भी कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। ट्रान्सजैविक फसलों का विकास जीन प्रौद्योगिकी द्वारा किया जा सकता है, जिससे उत्पादन वृद्धि की अपरिमित सम्भावना है। इसके भावी खतरों के प्रति भी अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है।

29. संयुक्त परिवार रचना को फिर से सुदृढ़ बनाया जाय। कम मकानों में अधिक लोग रह सकेंगे। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को तिलांजलि देने का प्रयास किया जाना चाहिए।
30. जनसंख्या नियंत्रण की दिशा में हमें बहुत सावधान रहना है नहीं तो धर्म निरपेक्षता के चलते यह व्यवस्था यहाँ विप्लवी दृश्य ला सकती है। पूरी बहुसंख्य सत्य सनातन समाज की संस्कृति ही खतरे में पड़ सकती है। जनांकिकी का सांस्कृतिक अनुपात बिगड़ रहा है अथवा चालाकी पूर्वक उसे बिगड़ा जा रहा है।
31. दृढ़ संकल्प/इच्छा शक्ति के साथ ही जनसंख्या पर नियंत्रण किया जाय। जो भी नियम बने चीन की भाँति कड़ाई से उसका पालन कराया जाय। एक दमपत्ति एक बच्चा। चाहे हिन्दू हो या मुसलमान व सिख, ईसाई। धर्म अथवा मजहब के नाम पर किसी को भी ढील न दी जाये। निःसन्देह जनसंख्या में स्थिरता आयेगी।
32. व्यक्तिवादी व भोगवादी संस्कृति से तौबा किया जाय तभी हम भारतीय दृष्टि से सुदृढ़ हो सकेंगे। इसी प्रक्रिया से हम तमाम उपभोक्ता वाली वस्तुओं से बच सकेंगे। हमें पश्चिमी जगत अपना बाजार भी नहीं बना पायेंगे। हमें विकास की अपनी परिभाषा गढ़नी होगी, हमारा प्रतिमान भारतीयता के अनुरूप होना चाहिए। संग्रहकर्ताओं व भोगवादियों को धरती पर भार माना जाय तथाकथित धनकुबेरों को अर्थ-पिशाच।
33. इस उपभोक्तावादी संस्कृति को अन्तःकरण की गहराई से समझने का प्रयास किया जाना चाहिए। ये भौतिकतावादी उस दिन देश को कैसे बचा पायेंगे जिस दिन शक्तिशाली से उनका सामना पड़ेगा। सामना करना तो इनके बस की बात नहीं यदि उन्हें अपनी कार से भागना पड़ा तो पहले उन्हीं से पेट्रोल माँगना पड़ेगा जिनसे लड़ना है।
34. प्रत्येक समाज व राष्ट्र की अपनी एक अलग पहचान होती है। प्रत्येक दृष्टि से उसकी रक्षा होनी चाहिए। जीवन का परम लक्ष्य भौतिक समृद्धि मात्र पा लेना ही नहीं है इसे तो लोग छल-कपट, चोरी, बेर्इमानी, ठगी व जालसाजी से भी प्राप्त कर लेते हैं। इसकी अनित्यता स्वयं सिद्ध है। किसी भी दशा में हमें नित्यता का दामन नहीं छोड़ना चाहिए।
35. साधना को ही साध्य समझने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए। बुद्धि और तर्कवाद की चरम परिणति मिथ्यात्व में है अतः हमें इनसे उपरत होना चाहिए। विज्ञानवादी दृष्टि सापेक्ष है हमें अपने चिन्तन में आध्यात्म (निरपेक्ष दृष्टि) को सम्यक रूप देना चाहिए। समग्र दृष्टि से समग्र सृष्टि रचना विधान व उसके सम्यक विकास में सहायक होगा। अन्ततः हम संविकास के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होंगे।

अन्ततः—

इशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत्।  
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृथः कस्यस्विदधनम्।<sup>25</sup>

## संदर्भ

1. श्रुति/सृति पुराणोक्त सूत्र।
2. कठोपनिषद्, 2/20।
3. श्रीमद्भागवद् गीता, 3/14,15।
4. वही, 3/13।
5. महामंत्र, महात्मा आनन्द स्वामी, अजय प्रिंटर्स, नई दिल्ली, 1978, पृ. 68-69।
6. वही, पृ. 69।
7. वृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/18।
8. केनोपनिषद्, 1/2।
9. छान्दोग्योपनिषद्, अ. 1/11/5।
10. ब्रह्म सूत्र, 1/1/33।
11. वही, 1/121/2।
12. श्रीमद्भागवद् गीता, 3/14।
13. ब्रह्मज्ञान सुधासार, पं. जयनारायण शर्मा, सुदर्शन मुद्रक, वाराणसी, 1984, पृ. 54।
14. 5वाँ, पृ. 70।
15. श्रीमद्भागवद् गीता, 2/43।
16. वही, 2/63।
17. कठोपनिषद्, 1/27।
18. मनुसृति, 2/94।
19. श्रीमद्भागवद् गीता, 2/4।
20. मुण्डकोपनिषद्, 3/2/9।
21. भारत की भूलों का खामियाजा भुगतता काश्मीर, भानुप्रताप शुक्ल, दैनिक जागरण, 15 जनवरी, 1996, पृ. 8।
22. पर्यावरण एवं संविकास, डॉ. जगदीश सिंह, ज्ञानोदय प्रकाशन, 2001, पृ. 224 में संदर्भित।
23. विकास हेतु वित्तीय प्रबन्धन, शिखर सम्मेलन में फिदेल काश्मीर के भाषण का अंश, हिन्दुस्तान, 30 अक्टूबर, 2000, पृ. 8।
24. आँख खोलने वाली रपट, राजीव शुक्ल, हिन्दुस्तान, 9 नवम्बर, 2002, पृ. 8।
25. ईशावास्योपनिषद्, श्लोक संख्या 1।

## द्विवेदीयुगीन आलोचना : एक विवेचन

-त्रहचा सिंह\*

यद्यपि भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ हो चुका था किन्तु आधुनिक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण इस युग में नहीं मिलता। 'हिन्दी प्रदीप' (1877-1910) ही एक ऐसा पत्र था जो कुछ गम्भीर आलोचनाएँ प्रकाशित करता था लेकिन इस पत्र में भी 1900 ई. के बाद ही अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर आलोचनाएँ प्रकाशित हुईं। लेकिन इस युग की आलोचनाएँ मुख्यतया पुस्तक समीक्षा टीकाओं या कवि-परिचय के रूप में प्रकाशित होने वाली आलोचनाओं तक सीमित थीं। यद्यपि द्विवेदी युग (1900-1920) में भी हिन्दी आलोचना का गम्भीर एवं सात्त्विक रूप तो नहीं निखरा फिर भी द्विवेदी युग को भारतेन्दु युग से उत्तराधिकार के रूप में आलोचना की निम्न प्रवृत्तियाँ प्राप्त हुईं—1. आधुनिक साहित्य की रचना एवं आलोचना के लिए भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यिक सिद्धान्तों का समन्वय, 2. इस काल के सुशिक्षित जनों की रुचि के अनुसार साहित्य की सृष्टि, 3. प्राचीनों एवं पाश्चात्यों के अंधानुकरण, अनैतिकता एवं भाषा सम्बन्धी भूलों से बचने के लिए साहित्यकारों को सचेत करना आलोचकों का कर्तव्य, 4. विशिष्ट व्यावहारिक आलोचनाओं में आलोच्य कवियों के दोषों के निरूपण की ही प्रमुखता।<sup>1</sup>

द्विवेदी युग में पश्चिमी साहित्य एवं आलोचना के सिद्धान्तों से हिन्दी के साहित्यकारों एवं आलोचकों का परिचय और प्रगाढ़ हुआ। सीधे अंग्रेजी, बंगला और मराठी आदि के माध्यम से साहित्यिक और आलोचनात्मक कृतियों के अनुवाद भी हिन्दी में प्रकाशित हुए। अपनी परम्परा के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी वर्तमान की चुनौतियों को स्वीकार करने तथा सामाजिक रुचि को परिवृत्त एवं परिष्कृत करने के लिए पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में कदम उठाया गया। रीतिकालीन मूल्यों, विषयों, विधाओं और माध्यम को त्यागने और राष्ट्रीयता, पवित्रतावादी, नैतिकता, विचार-स्वातंत्र्य, सामाजिक उपयोगिता आदि को स्वीकार करने की दिशा में प्रयत्न हुए। आलोचना इस अभीष्ट परिवर्तन को लाने का उपकरण बनी। इसलिए द्विवेदी युग में समसामयिक सर्जनात्मक साहित्य पर आलोचना हावी रही। विचारों की टकराहट से कटुता भी फैली लेकिन परिमार्जन भी हुआ। भारतेन्दु युग में आलोचना दोष-दर्शन के रूप में उभरी थी। द्विवेदी युग की आरभिक आलोचनाओं में भी दोष-दर्शन की प्रकृति की ही प्रधानता रही। स्वयं द्विवेदीजी की 'कालिदास की समालोचना' में तथा 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना' में यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। किन्तु बहुत जल्द ही इस युग के प्रायः सभी प्रमुख समालोचकों ने स्वीकार कर लिया कि आलोचना का लक्ष्य केवल दोष-निरूपण न होकर गुण-दोष विवेचन होना चाहिए। मिश्र बन्धुओं ने इसको स्पष्ट किया है, "किसी ग्रंथ के काव्य और व्याकरण सम्बन्धी गुण-दोषों की विवेचना करने एवं उसकी समुचित और अनुचित बातों के देखने का नाम समालोचना है।"<sup>2</sup> गुण-दोष विवेचन को आलोचना का लक्ष्य मानना द्विवेदीयुगीन आलोचना की एक प्रमुख विशेषता है। लेकिन उसकी कई महत्वपूर्ण पद्धतियाँ विकसित हुईं। डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने द्विवेदीयुगीन हिन्दी आलोचना की पाँच प्रवृत्तियों को लक्षित किया है—शास्त्रीय आलोचना अर्थात् लक्षण-ग्रंथों की परम्परा में काव्य-विवेचन, तुलनात्मक मूल्यांकन एवं निर्णय, अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना, परिचयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना।<sup>3</sup>

\* शोध-छात्रा, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)।

लक्षण-ग्रंथ प्रस्तुत करने की परम्परा रीतिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। द्विवेदी युग में भी इस परम्परा में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने 'काव्य प्रभाकर' (1910) तथा 'छन्द सारावली' (1917) और लाला भगवानदीन ने 'अलंकार-मंजूषा' की रचना की। 'भानु जी' ने भूमिका अंग्रेजी में लिखी और हिन्दी के अनेक पारिभासिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय भी दिये हैं। भगवानदीन ने अलंकारों की समुचित जानकारी कराने के उद्देश्य से ही उपरोक्त ग्रंथ की रचना भी की है। उन्होंने यथास्थान हिन्दी अलंकारों के समकक्ष फारसी, अरबी और अंग्रेजी अलंकारों का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः अंग्रेजी पढ़े-लिखे पाठकों का ध्यान दोनों ही आलोचकों ने रखा है। तुलनात्मक मूल्यांकर विवेच्य युग की आलोचना की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। कवियों और कविताओं के तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ करने का श्रेय पं. पद्मसिंह शर्मा को जाता है। 1907 में जुलाई की 'सरस्वती' में उनका 'बिहारी और फारसी कवि सादी' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने बिहारी और सादी की तुलना की। 'भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य', 'संस्कृत और हिन्दी कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' तथा 'भिन्न भाषाओं की कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' शीर्षकों से वे 1907 से 1912 तक बीच-बीच में 'सरस्वती' में छोटी-छोटी टिप्पणियों के साथ संस्कृत, हिन्दी, उर्दू आदि की कविताओं से मिलते-जुलते भाव वाले छन्द वे उद्भूत करते रहे। इसी प्रवृत्ति का सम्यक विकास बिहारी की सतसई के तुलनात्मक अध्ययन में हुआ। 1910 ई. में मिश्र बन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' प्रकाशित हुआ। इसमें न केवल तुलसी और शेक्सपीयर की बल्कि बाल्मीकि और सूर, केशव और मिल्टन तथा पद्माकर और वाल्टर स्काट की भी तुलना की गयी। आगे चलकर तुलनात्मक आलोचना की धूम मच गयी। लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी की विशद् तुलना करते हुए एक को दूसरे से बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। स्वयं पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सितम्बर 1911 की 'सरस्वती' में 'कालिदास की विद्वत्ता' नामक लेख में कालिदास और शेक्सपीयर तथा कालिदास और भवभूति की तुलना की। अन्वेषण और अनुसंधानपरक आलोचना का विकास 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (1897 ई.) के प्रकाशन से हुआ। 'मिश्र बन्धु-विनोद' (1913) में भी शोधपरक दृष्टि को महत्त्व दिया गया और कवियों के वृत्त-संग्रह के साथ उनकी प्राप्य-अप्राप्य कृतियों की सूचना तथा उनके काव्य के सम्बन्ध में मत प्रकाश भी किया गया। मिश्र बन्धुओं के अतिरिक्त अनुसंधानपरक आलोचना के उत्तरायकों में श्यामसुन्दर दास, राधाकृष्णदास, जगन्नाथदास रत्नाकर और सुधाकर द्विवेदी प्रमुख हैं। इन सभी का सम्बन्ध 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' से रहा। इनके अतिरिक्त दो नाम और भी उल्लेखनीय हैं—पं. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा (सं. 1920-2004 वि.) और पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (सं. 1940-1979 वि.)। ओझा जी मुख्यतः भारतीय लिपि विशारद और इतिहासकार थे। इतिहास के सन्दर्भ में ही उन्होंने प्राचीन हिन्दी साहित्य और संस्कृत साहित्य की कुछ कृतियों पर भी महत्त्वपूर्ण विचार किया है। सं. 1977 वि. में लिखित 'अनन्द विक्रम संवत् की कल्पना' नामक लेख में उन्होंने श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या द्वारा कल्पित अनन्द संवत् का सप्रमाण खण्डन किया। 'पृथ्वीराज रासो का निर्माणकाल' शीर्षक लेख में उन्होंने यह मत प्रकट किया कि पृथ्वीराज रासो की रचना सोलहवीं शताब्दी में हुई होगी। उनके अन्य साहित्यिक शोधपरक लेखों में माघ कवि का समय, कवि राजशेखर की जाति, कवि राजशेखर का समय, बीसलदेव रासो का निर्माण काल, कवि जटमल रचित गोरा बादल की बात उल्लेखनीय हैं। पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी मूलतः पुरातत्ववेत्ता एवं संस्कृत के उद्भट विद्वान थे। उनके साहित्य शोधपरक लेखों में 'जयसिंह काव्य' एवं 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' शीर्षक लेख उल्लेखनीय हैं। 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेखमाला में उन्होंने अपन्नंश से हिन्दी के विकास को भलीभाँति दर्शाया है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अपन्नंश की सहज उत्तराधिकारी हिन्दी ही है। गुलेरी जी ने 1902 ई. में जयपुर से 'समालोचक' पत्र भी निकाला। यह गम्भीर आलोचना का पत्र था। अधिक दिनों तक इसका प्रकाशन नहीं हो सका किन्तु इससे अनुसंधानपरक आलोचना का स्तर अवश्य ऊँचा हुआ।

यद्यपि परिचयात्मक आलोचना का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में ही हो गया था लेकिन द्विवेदीयुग में 'सरस्वती' के माध्यम से इस समीक्षा पद्धति में स्थिरता और गम्भीरता आयी। परिचयात्मक आलोचनाएँ आलोच्य कृति के सामान्य परिचय, उसकी प्रशंसा या निन्दा, आलोच्य विषय या कृति के सम्बन्ध में स्वतंत्र लेख, कृति विशेष को किसी परम्परा या ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखने की प्रवृत्ति तथा आलोच्य विषय के प्रति भावात्मक लगाव आदि के रूप में लिखी गयीं। 'सरस्वती' में प्रकाशित परिचयात्मक आलोचनाएँ प्रायः महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा ही लिखी गयीं हैं। द्विवेदी जी समालोचना को पत्रकारिता से अलग करके नहीं देख सके थे। यही उनकी दुर्बलता या सीमा थी। समालोचना के विषय में उनका मत था 'किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, यह विषय उपयोगी है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।' परिचयात्मक आलोचना के अन्तर्गत ही जीवन वृत्तान्तीय आलोचना और पुस्तक समीक्षा भी शामिल है। द्विवेदी जी और मिश्र बन्धुओं ने आलोच्य कवियों के जीवनवृत्त तथा ग्रंथों का परिचय दिया है। यद्यपि इन जीवनवृत्तों में मौलिक गवेषणा का अंश कम तथा प्राप्त सामग्री के संग्रह की प्रवृत्ति अधिक है, फिर भी कुछ पहलुओं के स्पष्टीकरण में इनका योगदान अवश्य है। यह बात अलग है कि कवियों के जीवन की एक तरफ वृहत्तकर सामाजिक परिस्थितियों के साथ और दूसरी तरफ उनके द्वारा रचित साहित्य से जोड़ने का कार्य इस युग में नहीं हुआ। द्विवेदी युग में यद्यपि पुस्तक समीक्षा का कार्य कई आलोचकों ने किया है किन्तु उसका ऊँचा आदर्श पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं बाबू बालमुकुन्द ने स्थापित किया जिनकी विस्तृत पुस्तक समीक्षाएँ 'समालोचना समुच्चय' में संकलित हैं। द्विवेदी जी की 'हिन्दी नवरत्न' की समीक्षा इस युग की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक समीक्षा है।

पुस्तक समीक्षा का विधायक और तेजस्वी रूप बाबू बालमुकुन्द गुप्त की समीक्षाओं में भी प्रकट हुआ। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'तारा', अयोध्या सिंह उपाध्याय के उपन्यास - 'अधिखिला फूल' आदि कई ग्रंथों की सशक्त आलोचना गुप्त जी ने की है। कभी-कभी जब परिचयात्मक आलोचना विशद् और गम्भीर हो जाती है तो व्याख्यात्मक आलोचना का रूप ले लेती है। व्याख्यात्मक आलोचना किसी रूढ़ि का अनुसरण न करके आलोच्य विषय की व्यापक उपयोगिता को दृष्टि में रखकर नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ने 'आनन्द कादम्बिनी' में लाला श्री निवासदास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से किया था। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' में 'नीलदेवी', 'परीक्षा गुरु' तथा 'संयोगिता स्वयंवर' की गम्भीर आलोचना करके इस पद्धति को पुष्ट किया था। द्विवेदी युग में बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दी बंगवासी' में ज्योतिरिन्द्र ठाकुर के बंगला नाटक मधुमती के मुंशी उदितनारायण कृत हिन्दी अनुवाद की आलोचना द्वारा इस परम्परा को आगे बढ़ाया किन्तु ये प्रारम्भिक प्रयास मात्र थे। आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समालोचनाओं में आलोचना की इस प्रवृत्ति का वैज्ञानिक स्वरूप देखने को मिला। यद्यपि द्विवेदी युग में भी आलोचना सम्बन्धी कुछ प्रतिमानों को स्थिर करने के लिए उसके सिद्धान्त पक्ष की भी कुछ चर्चा हुई किन्तु इस युग की आलोचना मुख्यतः व्यावहारिक आलोचना ही है। वस्तुतः हिन्दी में व्यावहारिक आलोचना के विस्तृत स्वरूप का यह उन्मेषकाल था। इस युग के आलोचकों के समक्ष आलोचना का आदर्श प्रस्तुत करने वाले ग्रंथों में प्रमुख थे, डॉ. जान्सन कृत 'लाइब्रे ऑफ पोएट्स', डॉ. ग्रियर्सन कृत 'मार्डर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान', मेक्समूलर, वेबर के लिख संस्कृत साहित्य के इतिहास आदि। बंगला, मराठी, उर्दू के तत्कालीन विशिष्ट आलोचकों की कृतियों से भी हिन्दी के कई आलोचक परिचित थे। स्वभावतः हिन्दी के आलोचकों ने अपनी आलोचनाओं में इनके समन्वय का उपयोग किया। इस युग की प्रमुख व्यावहारिक आलोचनात्मक कृतियों में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत 'नैषध चरित चर्चा' (1900), 'विक्रमांकदेव चरित-चर्चा' (1907), 'कालिदास की निरंकुशता' (1911), 'किरातार्जुनीय की भूमिका' (1916), मिश्र बन्धु कृत<sup>4</sup> 'हिन्दी'

नवरत्न' (1910), 'मिश्र बन्धु विनोद' प्रथम तीन भाग (1912-13), चौथा भाग (1934), पं. पद्मसिंह शर्मा कृत 'बिहारी की सतसई', प्रथम भाग की भूमिका का अंश (1918), पं. कृष्णबिहारी मिश्र कृत 'देव और बिहारी' (1920), लालाभगवानदीन कृत 'बिहारी और देव' (1925)। इनमें से कुछ का ग्रंथाकार प्रकाशन बाद में हुआ किन्तु धारावाहिक लेखमाला के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में ये रचनाएँ पहले निकल चुकी थीं। इनको देखने से स्पष्ट होता है कि इनमें आलोचना की किसी पद्धति विशेष को नहीं अपनाया गया है बल्कि व्यावहारिकता को दृष्टि में रखा गया है। द्विवेदी युग की सभी प्रकार की आलोचनाओं में प्रतिमान के रूप में दो दृष्टियाँ लक्षित होती हैं— एक तो परम्परागत शास्त्रीय दृष्टि, जिसके आधार पर आलोच्य कृति का गुण-दोष विवेचन करके उसकी उत्कृष्टता या हीनता प्रमाणित की जाती थी और दूसरी नैतिक सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि जो आलोच्य कृति के व्यापक प्रभाव के परिणाम को दृष्टि में रखकर उसकी श्रेष्ठता या हीनता घोषित करती थी। वस्तुतः इस युग के प्रायः सभी आलोचकों ने आलोच्य कृतियों का गम्भीर अध्ययन किया था। इसलिए उनके कथनों में तत्त्व और प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में यह कहना ज्यादा संगत है कि 'चाहे द्विवेदी जी की कठोर नैतिक दृष्टि हो चाहे पद्मसिंह शर्मा की उल्लिखित भाव तरह दृष्टि; चाहे मिश्र बन्धुओं की लचीली और अस्थिर सौन्दर्य दृष्टि हो, चाहे लाला भगवानदीन और कृष्ण बिहारी मिश्र की स्थिर शास्त्रीय दृष्टि, प्राचीन रस दृष्टि से किसी का कोई विरोध नहीं था। अपनी सीमाओं के बावजूद ये सभी आलोचक रसात्मक कविता को ही महत्त्व देते रहे।<sup>5</sup>

### संदर्भ

1. पं. सुधाकर पाण्डेय (सम्पादित), हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, नवाँ भाग, पं. 133।
2. हिन्दी काव्य (आलोचना), सरस्वती, दिसम्बर 1900, पृ. 419।
3. डॉ. नगेन्द्र (सम्पादित), हिन्दी साहित्य का इतिहास, 1973, पृ. 21।
4. 1900 ई. से ही पं. रघुमानबिहारी मिश्र और पं. शुभेद व बिहारी मिश्र ने सम्मिलित रूप से आलोचना लिखना शुरू किया था। बाद में अपने बड़े भाई पं. गणेश बिहारी मिश्र को भी संयुक्त कर ये तीनों मिश्र बन्धु के नाम से लिखते रहे।
5. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, द्विवेदीयुग, गद्य साहित्य, डॉ. नगेन्द्र (सम्पादित), पूर्वोक्त, पृ. 526।

## संसदीय लोकतंत्र के समक्ष साम्प्रदायिकता, जातिवाद, धर्मनिश्चेष्टता, अष्टावार और अपशाधीकरण की चुनौतियाँ

—ऋषिकेश सिंह\*

लोकतंत्र से तात्पर्य ऐसी शासन व्यवस्था से है जिसमें सरकार जनता की हो, जनता के द्वारा व जनता के लिए चुनी गयी हो। प्राचीनकाल से ही लोकतंत्रीय सरकार एक आदर्श सरकार मानी जाती रही है और वर्तमान विश्व में लोकतंत्र एक सर्वोत्तम राजनीतिक व्यवस्था एवं आदर्श के रूप में सर्वमान्य है। परन्तु बीसवीं शताब्दी में हर तानाशाह ने लोकतंत्रीय नारे देते हुए अपने-आपको जिस प्रकार लोकतंत्रवादी घोषित करने की कोशिश की है उससे लोकतंत्र की मान्यताओं में उलझाव पैदा हो गया है और बागवीरों के उच्छृंखल व्यवहार का भय जिसके कारण अरस्तू ने इसे भीड़तंत्र का नाम देकर खारिज कर दिया था, निश्चित रूप से बढ़ा है। यद्यपि भारत उन सौभाग्यशाली देशों में से है जहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक समस्याओं एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी लोकतंत्र स्थापित हो सका और आज भारत दुनिया का सबसे बड़ा और सफल लोकतांत्रिक देश है।

भारत के संविधान का स्वरूप गणतंत्रीय तथा बहुत कुछ संघीय है, जिसमें संसदीय प्रणाली के सभी लक्षण मौजूद हैं। सच्चा लोकतंत्र संसदीय लोकतंत्र ही हो सकता है जिसमें बिना हिंसात्मक क्रान्ति के सरकार को बदला जा सकता है। अब तक भारत में संसदीय लोकतंत्र सफल भी रहा है और संसद के लिए होने वाले चुनाव व्यक्ति स्वातंत्र्य और विचार स्वातंत्र्य के वातावरण में सम्पन्न हुए हैं। चुनाव प्रक्रिया का सार इस बात पर जोर देता है कि अन्ततः आम मतदाता ही स्वामी है। वयस्क भारतीय नागरिक को केवल मतदान करने या प्रतिनिधि चुनने का ही अधिकार नहीं है बल्कि उसे यह अधिकार है कि वह कोई भी पद प्राप्त कर सकता है या चुना जा सकता है। चुनावों में जिन उम्मीदवारों को जनता का विश्वास प्राप्त होता है वे विजयी होते हैं। संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के अनुरूप संसद के निचले सदन, लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल का नेता प्रधानमंत्री बनता है तथा अपनी सरकार बनाता है और मंत्रिपरिषद् सामूहिक उत्तरदायित्व से जो कि जनता के प्रतिनिधियों के प्रति और अन्ततः जनता के प्रति होता है, शासन का संचालन करती है। अतः भारत की जनता अपनी पसन्द की सरकार के जरिये अपने ऊपर ही राज करती है।

परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के 53 वर्षों के बाद जबकि हम 51वाँ गणतंत्र दिवस भी मना चुके हैं। देश को कई समस्याओं से जूझना पड़ रहा है और इन चुनौतियों का कोई समाधान सम्भव नहीं हो पा रहा है जबकि ये विकराल रूप ग्रहण करती जा रही है। साम्प्रदायिकता के कारण भारत में जनकल्याण, राष्ट्रीय एकता और संगठन को भयंकर खतरा पैदा हो रहा है, जिसका हमारे पड़ोसी दुश्मन लाभ उठाने के ताक में लगे हैं। अपने उग्र रूप में साम्प्रदायिकता कितनी भयंकर हो सकती है, यह तो विभक्त भारत माँ अपने कटे अंगों सहित हमें हर पल दिखा रही है और अपनी मर्म व्यथा को मर्मान्तक मूक शब्दों में व्यक्त कर रही है। जातिवाद समाज को विभाजित कर रहा है। जातिगत विद्वेष

\* वरिष्ठ प्रवक्ता, स्नातकोत्तर राजनीतिशास्त्र विभाग, एल. वी. एस. पी. जी. कॉलेज, गोण्डा (उत्तर प्रदेश)।

Founder and Director, Indian Laboratory of Social Sciences and Societies.

Editor, Indian Journal of Social Sciences and Societies.

के कारण जातिगत हिंसा रोजमर्या की बात हो गयी है। आज राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा जातिगत हितों पर जोर ज्यादा है और जातिगत निष्ठाओं के सृजन की यह प्रजा जैसे-जैसे बढ़ती जायेगी वैसे-वैसे भारत में लोकतंत्र का विकास मार्ग भी अवरुद्ध होगा, इसमें कोई दो राय नहीं है। धर्मनिरपेक्षता जो कि सेक्यूलरिज्म का प्रचलित हिन्दी अनुवाद है, को भारत सरकार द्वारा प्रकाशित “भारत के संविधान” के हिन्दी संस्करण में “पंथनिरपेक्ष” लिखा गया है। इस प्रकार भारत सभी धर्मों और उनके पंथों के अनुयायियों को समान संरक्षण तथा स्वतंत्रता देता है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि हम धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना भले कर पाये हो परन्तु धर्म निरपेक्ष समाज की स्थापना करने में अक्षम सिद्ध हुए हैं। इसके अलावा ब्रह्मचार भारतीय संसदीय लोकतंत्र के समक्ष एक गम्भीर चुनौती के रूप में उभर रहा है जिसमें सत्ता बनाये रखने के लिए जनप्रतिनिधियों की खरीद-फरोख, दल-बदल, चुनाव बाद दलीय गठबन्धन से लेकर विभिन्न प्रकार के घोटाले तथा घूस तक शामिल है। आजकल राजनीतिक अपराधीकरण अर्थात् राजनीतिज्ञों और अपराधियों के अपवित्र गठबन्धन की चर्चा जोरें पर है। राजनीति और अपराध एक दूसरे के पूरक होते जा रहे हैं और वह समय दूर नहीं है जब सारी राजनीति पर ये तत्त्व हँकी हो जायेंगे। इसलिए इन चुनौतियों की पृथक-पृथक चर्चा करके उनकी उत्पत्ति, विकास-खतरे और इनको दूर करने के उपायों पर प्रकाश डालना जरूरी हो जाता है।

### साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता के अन्दर वे सभी भावनाएँ आ जाती हैं जिनमें किसी धर्म अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाये और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर प्राथमिकता दी जाय तथा उस समूह में पृथकता की भावना उत्पन्न की जाये या उसको प्रोत्साहित किया जाये। भारत में साम्प्रदायिकता का आधार धार्मिक ज्यादा है। यद्यपि पारसियों, बौद्धों, जैनों तथा ईसाइयों के अपने-अपने संगठन हैं, साथ ही वे अपने सदस्यों के हितों की साधना में लिप्त रहते हैं, परन्तु ऐसे सभी संगठनों को सामान्यतया साम्प्रदायिकता नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे किसी पृथकता की भावना से प्रेरित नहीं हैं। इसके विपरीत मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा जैसी संस्थाएँ जिनकी संख्या आज भारत में बहुत अधिक बढ़ी हैं, साम्प्रदायिक कहा जायेगा क्योंकि वे धार्मिक अथवा भाषा समूहों के अधिकारों तथा हितों को राष्ट्रीय हितों से ऊपर रखते हैं। सामान्यतः एक सम्प्रदायवादी का दृष्टिकोण समाज विरोधी होता है। उनको समाज विरोधी इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि वह अपने समूह के संकीर्ण हितों को पूरा करने के लिए अन्य समूहों के और सम्पूर्ण देश के हितों की अवहेलना करने से पीछे नहीं हटता। साम्प्रदायिक संगठनों का उद्देश्य शासकों के ऊपर दबाव डालकर अपने सदस्यों के लिए अधिक सत्ता प्रतिष्ठा तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना होता है। साम्प्रदायिकता या साम्प्रदायिक विचारधारा के तीन तत्त्व या चरण होते हैं और उनमें एक तारतम्य होता है। इस क्रम में पहला स्थान इस विश्वास का है कि एक ही धर्म मानने वालों के सांसारिक हित यानी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित भी एक जैसे होते हैं। इसी से धर्म पर आधारित सामाजिक, राजनीतिक समुदायों का जन्म होता है। वर्गों, जातिय-समूहों भाषायी, सांस्कृतिक सामान्यताओं, राष्ट्रों या प्रान्तों और राज्यों जैसी राजनीतिक क्षेत्रीय इकाईयों के स्थान पर धर्म पर आधारित इन समुदायों को ही भारतीय समाज की बुनियादी इकाईयों के रूप में देखा जाने लगता है। साम्प्रदायिक विचारधारा का दूसरा तत्त्व यह विश्वास है कि भारत जैसे बहुभाषी समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित यानी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न है। साम्प्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या “समुदायों” के हित एक दूसरे के विरोधी हैं। इसी चरण में आकर जिन्होंने साम्प्रदायिक जोर देकर कहने लगते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों के सांसारिक हित एक हो ही नहीं सकते, उनमें परस्पर विरोध होता ही है। अतः बुनियादी रूप से साम्प्रदायिकता ही वह विचारधारा है जिसके आधार पर साम्प्रदायिक राजनीति खड़ी होती है। साम्प्रदायिक हिंसा, साम्प्रदायिक

विचारधारा का ही एक स्वाभाविक नतीजा है। इसी तरह हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख या ईसाई साम्रादायिकताएँ एक दूसरी से जुदा नहीं हैं। वे एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ हैं। ऊपर से भले ही अलग-अलग दिखती हो, पर उनके मूल में एक ही तरह की साम्रादायिक विचारधारा काम करती रहती है। यदि हम भारत में साम्रादायिकता के उदय पर ध्यान केन्द्रित करें तो स्पष्ट है कि भारत में साम्रादायिकता की समस्या ब्रिटिश शासन की समकालिक है और भारत में साम्रादायिक चेतना का जन्म उपनिवेशवाद के दबाव तथा उसके खिलाफ संघर्ष करने की जरूरत से उत्पन्न परिवर्तनों के कारण हुआ। आधुनिक राजनीति का आधार ही था, अधिक-से-अधिक भारतीयों में राजनीतिक चेतना पैदा करना तथा उन्हें सक्रिय करना। इसके लिए राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक, भाषायी विकास तथा वर्ग संघर्ष की आधुनिक धारणाओं का प्रसार एक प्रक्रिया का अनिवार्य नतीजा था। लेकिन यहाँ इन धारणाओं का विकास धीमी गति से या आंशिक रूप में हुआ। नये यथार्थ को जज्ज करने, सम्पर्क के व्यापक दायरे बनाने और नई पहचानों और विचारधाराओं का विकास करने के लिए लोगों ने जाति, इलाके, नस्ल, धर्म, सम्रादाय और पेशे जैसे आत्म-पहचान के पुराने परिचित तथा पूर्व आधुनिक तरीकों के प्रति झुकाव शुरू किया। सामान्यतया ऐसा होना चाहिए था कि इन पुरानी अपर्याप्त और मिथ्या धारणाओं तथा पहचानों का स्थान राष्ट्र, राष्ट्रीयता की धारणाएँ ले लेती। बड़े पैमाने पर ऐसा हुआ भी परन्तु देश के कुछ भागों में, आम जनता के कुछ वर्गों में धार्मिक चेतना साम्रादायिक चेतना में बदल गयी। मुस्लिम साम्रादायिकता के कारण भारत-विभाजन के बाद भी भारत में साम्रादायिकता एक विकट समस्या है—हिन्दू साम्रादायिकता, मुस्लिम साम्रादायिकता और इसमें भी शिया और सुन्नी, सिक्ख साम्रादायिकता और वर्तमान में तो ईसाई भी साम्रादायिकता के दूसरे चरण में प्रवेश कर चुके हैं। इसके अलावा भाषायी आधार पर भी कई समूह प्रकट हुए हैं परन्तु भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करके इनका काफी कुछ समाधान किया जा चुका है। यद्यपि ‘महाराष्ट्र मराठियों के लिए’ की उग्रता सबको दिख रही है। वर्तमान समय में स्वतंत्रता प्राप्ति के पाँच दशक बीत जाने के बावजूद भी भारत में साम्रादायिकता घटने के बजाय बढ़ी है। इसका प्रमुख कारण तो यह है कि मुसलमानों में पृथक्करण की भावना घर कर गयी है। जमायत-ए-इस्लाम, जमीयत-उल-उलमा-ए-हिन्द जैसे संगठन इस भावनाओं को और भी अधिक उकसाते हैं। इसमें वृद्धि करने में पाकिस्तानी सरकार का भी काफी हाथ है। पाकिस्तानी भारत में हिन्दू-मुस्लिम तनाव की छोटी घटना को भी हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों के जातिबध की संज्ञा देते हैं। इसके अलावा अंग्रेजी काल से ही मुसलमान आर्थिक रूप से पिछड़े हैं। शैक्षणिक पिछड़ेपन के कारण और आधुनिकीकरण के अभाव में उनका मनोबल गिरा है तथा उनका असन्तोष उग्र रूप ले लेता है। हिन्दुओं में भी कई ऐसे लोग व गुट हैं जो धर्मान्धता की संकीर्ण भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। हिन्दू महासभा, विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल, शिवसेना आदि का तो यहाँ तक कहना है कि भारत हिन्दुओं का देश है। वे ‘हिन्दुत्व संकट में हैं’ का नारा देते ही रहते हैं। इन सबके अतिरिक्त स्वतंत्रता के बाद साम्रादायिकता को पुनः उभारने में निश्चित रूप से ही राजनीतिक दलों का हाथ रहा है और उन सभी में किसी न किसी रूप से ही राजनीतिक दलों का हाथ रहा है। साम्रादायिक दंगों सम्बन्धी सात जाँच आयोगों की रिपोर्टों का विश्लेषण करने पर यह पाया गया है कि उन सभी में किसी न किसी रूप में राजनीतिक दलों की आलोचना की गयी है। रघुवीर दयाल आयोग (1969) ने कहा कि “राजनीतिक दलों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साम्रादायिक भावनाओं को नहीं उभारना चाहिए। इस प्रकार 1979 में जमशेदपुर में हुए दंगों की जाँच के लिए गठित आयोग ने कहा कि “राजनीतिक दल सम्रादायों को सदैव ही वोट बैंक समझते हैं और तदनुरूप ही अपने कार्यक्रम और कामना सम्बन्धी योजना बनाते हैं और राजनीतिज्ञों को अन्य किसी भी बात की तुलना में सज्जा कहीं अधिक प्यारी है।” यद्यपि भारत में साम्रादायिकता का उत्तरदायित्व जिस पर भी डाला जाय परन्तु इसका दुष्परिणाम सम्पूर्ण भारत अवश्य ही भोग रहा है। इसमें विभिन्न वर्गों में आपसी द्वेष बढ़ता जा रहा है। इस द्वेष के फलस्वरूप होने वाले दंगों में लूट इत्यादि तथा इस पर काबू पाने के लिए अत्यधिक धन खर्च करना पड़ता है जिससे आर्थिक हानि होती है और घायलों की संख्या

तो अत्यधिक होती ही है कितनों के प्राण भी चले जाते हैं, राष्ट्रीय एकता बाधित होती है जिससे राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा पैदा हो सकता है तथा आर्थिक उन्नति और औद्योगिक विकास में हास होने से अन्य राष्ट्रों के साथ हमारे सम्बन्ध भी खराब होते रहते हैं।

साम्राज्यिक को दूर करने के लिए उपाय अपनाया जाना जरूरी है। कुछ सुझाव प्रस्तुत हैं :—

1. सरकार को सदैव ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा ऐसा कोई भी कार्य न हो पाये, जिसके द्वारा साम्राज्यिकता को प्रोत्साहन मिलता है।
2. सर्वत्र इस भावना को प्रोत्साहन दिया जाये कि सब धर्मों व सम्प्रदायों के लोग मिल-जुलकर रोज मौन प्रार्थना करें, अनावश्यक हो-हल्ला अनुचित है।
3. शिक्षण में आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश किया जाये और साम्राज्यिक या मजहबी क्रिया-कलापों को हतोत्साहित करना जरूरी है।
4. किसी भी सार्वजनिक क्षेत्र में बहुमत के आधार पर कोई प्रवृत्ति पैदा न की जाये। सारा कार्य ऐसे ढंग से हो कि अल्पसंख्यों को अपने अल्पसंख्यक होने का भान ही न रहे।
5. समान आचार संहिता का निर्माण अत्यन्त ही जरूरी है इसके अलावा सरकार को सदैव ही इस प्रकार के कानूनों को निर्माण करना चाहिए जो कि हर व्यक्ति पर समान रूप से लागू होते हैं।
6. भारत में विभिन्न समयों पर अनेक सम्प्रदाय सरकार में अपने विशेष प्रतिनिधित्व की माँग करते हैं। इसको ठुकराया जाना जरूरी है तथा उनको एक राष्ट्र का सबक देना आवश्यक है।
7. भाषा के सम्बन्ध में भारत सरकार को अपनी नीति ठीक करनी होगी यह भी भारत में साम्राज्यिकता को बढ़ावा देने वाला एक प्रमुख कारक है।

इन सबके अलावा राजनीतिक दल भी अपने संकीर्ण स्वार्थों को छोड़कर धर्मनिरपेक्ष राजनीति के मार्ग पर चलें तथा मात्र वोट बैंक के लिए साम्राज्यिक तुष्टीकरण की नीति अपनाना भी खतरनाक है। यह आशा की जा सकती है कि राजनीतिक चेतना की वृद्धि और लोकतांत्रिक मूल्यों के परवान चढ़ने के साथ धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप भी निखरता जायेगा।

### जातिवाद

भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारम्भ होने के पश्चात् यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक संस्थाएँ और लोकतंत्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप पारम्परिक संस्था जाति का लोप हो जायेगा। किन्तु स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीति में जाति प्रथा का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता ही गया है परन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि कोई भी सामाजिक तंत्र कभी पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता। अतः यह प्रश्न करना कि क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है अर्थ शून्य है। (रजनी कोठारी, कास्ट इन पोलिटिक्स)।

यद्यपि भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन के समय ऐसा लग रहा था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और व्यस्क मताधिकार के लागू हो जाने के बाद यह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित हुआ। आरम्भ में तो सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उच्च जातियाँ ही राजनीति से प्रभावित रहीं और राजनीतिक लाभ उन्हीं तक सीमित रहें। परन्तु समय के साथ-साथ मध्यम और निम्न समझी जाने वाली जातियाँ आगे आने लगीं और अपने राजनीति प्रभाव को बढ़ाने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि जातियों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी और आज जातिगत हिंसा का बोलबाला है। यद्यपि रजनी कोठारी

जैसे विद्वानों का मानना है कि जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रूकावट नहीं डालती बल्कि इसको बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। स्थानीय और राज्य स्तर की राजनीति में जातिय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी देशों में दबाव गुट। परन्तु यह विचार उस समय घातक दिखने लगता है जब ऊपरी तौर पर जातिय भेद-भाव मिटाने की बात करने वाले राजनीतिज्ञ जाति के आधार पर वोट बटोरने की कला में निपुणता प्राप्त करने को प्रयासरत दिखते हैं।

कुल मिलाकर जातिय व्यवस्था जो कि भारतीय समाज का परम्परागत पक्ष है, से देश को कोई खतरा नहीं है। परन्तु जातिवाद जो कि जातीय प्रतिस्पर्धा और जातिगत विद्वेष को अन्तर्गत हिंसात्मक क्रियाकलापों के स्तर तक पहुँचा देने वाला शब्द है कि भारतीय समाज में अभिव्यक्ति निश्चित ही खतरनाक है जातिवाद के खतरों से आज समस्त भारतीय परिचित हैं अतः इनकी चर्चा तो व्यर्थ है परन्तु जातिवादी प्रवृत्तियों को हतोत्साहित करना जरूरी है। इस हेतु जहाँ वास्तव में पिछड़ी जातियों को आर्थिक और सामाजिक रूप से आत्मनिर्भर बनना जरूरी है वहीं जातिगत आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण अनुचित है। नेताओं को लोगों की जाति-पाति के प्रति निष्ठा को थोक वोट के रूप में नहीं देखना चाहिए और सत्ता में आने के लिए सदन में बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से जाति के आधार पर उम्मीदवारों के चयन और सत्ता में आने पर जातिगत आधार पर पों का बंदरबाँट निश्चित ही खतरनाक प्रवृत्ति है।

### धर्मनिरपेक्षता

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। इसके अतिरिक्त संविधान में धर्मनिरपेक्ष राज्य का दूसरा आधार नागरिकों के धार्मिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार के रूप में अनुच्छेद 25 से 30 तक फैला हुआ है। धर्म निरपेक्षता के दो रूप हो सकते हैं। 1. राज्य धर्म विरोधी हो, उसकी धर्म विरोधी विचारधारा हो तथा वह उसी पर आचरण करे। 2. राज्य धर्मों की ओर से उदासीन हो किसी धर्म को संरक्षण न दे, किसी धर्म से द्वेष न करे, नागरिकों को अपनी रुचि का धर्म मानने की स्वतंत्रता दे और आवश्यकता पड़ने पर यदि राज्य किसी कार्य या जनहित के कार्य में किसी धर्म की किसी बात को बाधक पाता हो तो उसे अपने लिए अमान्य घोषित कर दे। भारत में दूसरे अर्थ में ही धर्म निरपेक्षता को अंगीकार किया गया है।

परन्तु संवैधानिक प्राविधानों के इतर जब हम लोक व्यवहार पर नजर डालते हैं तो साफ प्रतीत होता है कि भारत में धर्म निरपेक्षता का उपयोग मात्र अल्पसंख्यकों के और विशेषकर मुसलमानों के हित में ही हुआ है। यद्यपि जहाँ अन्य धर्मावलम्बी अल्पसंख्यक हैं वहाँ उन्हें भी लुभाया जाता रहा है। जैसे जम्मू-कश्मीर में हिन्दुओं को। उल्लेखनीय है कि अपने आप को धर्मनिरपेक्ष कहने वाले अल्पसंख्यकों की साम्रादायिकता की उतनी तीखी आलोचना नहीं करते जितनी की वे बहुसंख्यक साम्रादायिकता की करते हैं। धर्म निरपेक्षता की दुहाई देने वाले सभी नेता दिल्ली के इमाम अब्दुल्ला बुखारी से मुसलमानों के वोट दिलवाने की फरियाद करते दिखायी देते हैं और मिजोरम में क्रिक्षियन चर्च की दुहाई देकर चुनाव लड़ते हैं। सर्वाधिक जरूरी धीज 'समान नागरिक संहिता' को राजनीतिक दल मात्र चुनाव के समय ही वाद-विवाद का मुद्दा बनाते हैं।

उल्लेखनीय है कि भारत में धर्म निरपेक्षता के जिस आदर्श को अपनाया गया, उसका लक्ष्य है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में धार्मिक विभेद के बावजूद भाईचारे की भावना को जन्म देकर भारत के भावात्मक एकीकरण की स्थिति को प्राप्त करना। हम अब तक इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाये हैं और दुःखद तथ्य है कि हम इस दिशा में आगे ही नहीं बढ़ रहे हैं। मूल बात यह है कि संविधान ने धर्म निरपेक्ष राज्य तो स्थापित कर दिया लेकिन एक धर्म निरपेक्ष समाज की सम्भावना क्षीण होती जा रही है। सभी राजनीतिक दलों ने अपना लक्ष्य येन-केन-

प्रकारेण सत्ता प्राप्ति बना लिया है और सत्ता की इस अन्धी दौड़ में वे व्यक्तियों की धार्मिक भावनाओं के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। मन्दिर-मस्जिद जैसे विवाद राष्ट्रीय जीवन पर छा गये हैं। ईसाइयों पर हमले हो रहे हैं परन्तु इन सब समस्याओं के पीछे वाग्वीरों के हाथ को जनता देख ही नहीं पा रही है। हम धर्म निरपेक्षता के लक्ष्य को तभी प्राप्त कर सकते हैं जब प्रत्येक भारतीय अपने हृदय में इस बात को सँजो ले कि हम पहले तथा अन्तिम रूप में भारतीय हैं और हमें अपने भारतीय होने पर गर्व है।

### **भ्रष्टाचार**

भ्रष्टाचार राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत बड़ा खतरा है। यह भारत में घुन की तरह काम कर रहा है और शासन तथा समाज को अन्दर ही अन्दर जर्जर बना रहा है। भारत में भ्रष्टाचार इतना अधिक बड़ा है कि इसका वर्गीकरण भी सम्भव नहीं है। यदि भ्रष्टाचार का शाब्दिक अर्थ भ्रष्ट आचरण से है और यदि यह सदाचार का विलोम है तब तो भारत में सदाचारी वही है जिन्हें भ्रष्टाचार का कोई मौका नहीं मिल पा रहा है। यद्यपि यह बात सामाजिक जीवन पर पूरी तरह सत्य भले नहो परन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से यही सत्य है। भारत में स्वतंत्रता का अर्थ भ्रष्टाचार के अधिक अवसर पाना हो गया है। लोकतंत्र का एक अहम गुण सामाजिक कल्याण का है परन्तु भारत में व्यक्ति लाभ का सिद्धान्त सर्वोपरि हो गया है और इसी का स्वाभाविक परिणाम सभी क्षेत्रों में व्यापक भ्रष्टाचार का पाया जाना है। राजनीतिक भ्रष्टाचार में भाई-भतीजावाद, रिश्वतखोरी, सत्ता बनाये रखने के लिए जनप्रतिनिधियों की खरीद-फरोख्त, मंत्री पद के लालच में दल-बदल, चुनाव के बाद होने वाले दलीय गठबंधन और राजनीतिज्ञों द्वारा किये गये विभिन्न घोटाले जिनको गिनाना बौद्धिक मूर्खता ही होगी, शामिल किये जा सकते हैं। प्रश्न यह नहीं है कि भ्रष्टाचार से क्या नुकसान है। क्योंकि भ्रष्टाचारियों के कारण जनता का हिलता हुआ विश्वास और उसके कारण लोकतंत्र की कमज़ोरी साफ परिलक्षित है। प्रश्न तो यह है कि इसे कैसे समाप्त किया जाये। भ्रष्टाचारी वर्तमान समय में धीरे-धीरे अप्रतिष्ठित होने के बजाय प्रतिष्ठा प्राप्त करते जा रहे हैं एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि जिस राजनीतिज्ञ के नाम से किसी प्रकार का भ्रष्टाचार न जुड़ा हो उसे दरकिनार किया जाने लगे। जैसे कि पूर्व प्रधानमंत्री अटल जी को अक्सर ही राजनीति से संन्यास ले लेने की नसीहत दी जाती है। यद्यपि यह राय थोड़ी गलत जरूर दिखती है परन्तु निकट भविष्य में राजनीतिक भ्रष्टाचार में कमी आने की कोई सम्भावना नहीं है। क्योंकि नेतागण आरोपों को विरोधियों की चाल कहकर साफ निकल जायेंगे और अपने प्रभाव से सबूतों को मिटाकर न्यायालय से भी बचते रहेंगे तथा उनके राजनीतिक भविष्य पर कोई आँच भी नहीं आयेगी। चुनाव में मतदाता वोट देते समय बाकी सभी समीकरण देखते हैं परन्तु सदाचारी या भ्रष्टाचारी के प्रति ध्यान ही नहीं देते। इसके अलावा राजनीति का यह अर्थ जिसे राजनीति शास्त्री कदापि मान्यता नहीं देते कि राजनीति हेरा-फेरी और चमचेबाजी का कुछ शालीन-सा नाम है, सर्वाधिक प्रचलित है और राजनीतिज्ञ राजनीति के इसी अर्थ को हृदय में सँजोकर पेशेवर राजनीति में उत्तर रहे हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर मैंने कहा है कि भ्रष्टाचार से जनता का विश्वास हिल रहा है तो जब यह हिलता हुआ विश्वास उखड़ जायेगा तो उसी दिन भारत से भ्रष्टाचार और भ्रष्टाचारियों की विदाई अपने आप हो जायेगी। लेकिन जब तक यह दिन नहीं आ जाता तब तक राजनीतिक भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए तमाम प्रकार के भ्रष्ट उपाय सुझाये जाते रहेंगे और इन सुझावों के आधार पर कानून भी बनते रहेंगे।

### **अपराधीकरण**

राजनीतिज्ञों और अपराधियों के अपवित्र गठबन्धन की चर्चा आलकल जोरों पर है। राजनीति और अपराध एक दूसरे के पूरक हो रहे हैं, जिसके कारण भारतीय लोकतंत्र खतरे में पड़ने जा रहा है और लोकतंत्र की गाड़ी पटरी से उत्तर चुकी है। यहाँ तक चर्चा है कि कतिपय राजनीतिज्ञों और कुख्यात अपराधियों के साँठ-गाँठ से हमारी आन्तरिक सुरक्षा को भी खतरा है परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों हुआ? अगर हम प्रारम्भिक भारतीय राजनीति पर दृष्टिपात नहीं तो साफ प्रतीत होता है कि शुरू में विभिन्न राजनीतिक दलों व नेताओं ने चुनावों में विजय प्राप्त

करने के लिए अन्य उपायों के अलावा कुछ्यात अपराधियों का प्रयोग किया ताकि उनके बाहुबल और भय का लाभ उठाकर वे चुनाव जीत सकें। कई वर्षों तक सभी राजनीतिक दलों ने इसका लाभ उठाया, यह राजनीतिज्ञों के अपराधीकरण का समय था और इस समय किसी ने भी इस बात पर चिन्ता नहीं जतायी। धीरे-धीरे अपराधियों को अपने बाहुबल व शक्ति का एहसास हुआ और उन्हें लगने लगा कि यदि वे स्वयं ही चुनाव लड़ें तो भी विजयी हो सकते हैं और किसी सांसद या विधायक की छत्र-छाया में रहने से अधिक सुरक्षित होगा कि स्वयं ही उक्त पद प्राप्त कर लें। यह अपराधियों के राजनीतिकरण का समय है। पहले राजनीतिज्ञों का जैसा व्यवहार अपराधियों के प्रति रहता था, अब ठीक वैसा ही व्यवहार अपराधी राजनीतिज्ञों के प्रति करने लगे हैं। पहले राजनीतिक दल अपराधियों को स्वेच्छा से टिकट देते थे परन्तु अब राजनीतिक दल कुछ्यात व्यक्तियों के दबाव का शिकार बन रहे हैं। एक समय ऐसा भी आ सकता है जबकि सारी राजनीति पर ये तत्व हॉवी हो जायेंगे और यदि भविष्य की सरकारें इन लोगों के हाथ में आ गयी तो देश की दुर्दशा का अन्त नहीं रहेगा। यद्यपि 14 अक्टूबर, 1989 को नयी दिल्ली में स्व. कमलापति त्रिपाठी के नेतृत्व में 'राजनीति के अपराधीकरण' विषय पर हुई गोष्ठी में इस बात पर चिन्ता जतायी गयी और 9 जुलाई, 1993 को वोहरा समिति भी गठित की गयी परन्तु इस समिति की सिफारिशों को आज तक लागू नहीं किया गया। जहाँ तक अपराधीकरण को समाप्त करने की बात है तो इसे केवल भाषण दे देने और प्रस्ताव पारित कर देने से नहीं रोका जा सकता। मतदाताओं में भी जागरूकता जरूरी है ताकि वे अपराधिक पृष्ठभूमि वाले प्रत्याशियों को चुनाव में हरा दें। परन्तु इस समस्या पर भारत के पूर्व राष्ट्रपति श्री नारायणनजी का सुझाव ही अनिम माना जाना चाहिए कि राजनीतिक दल अपराधियों को कदापि टिकट न दे। यद्यपि आज राजनीतिक दल निश्चित रूप से अपराधियों के दबाव में है परन्तु अपने जनमत और शासन-प्रशासन के बल पर वे ऐसा कर सकते हैं।

### संदर्भ

- \* भारत का संविधान, मूल।
- \* भारतीय शासन और राजनीति, डॉ. आर. के. सिंह।
- \* भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और भारतीय गणतंत्र का संविधान, डॉ. ऋषिकेश सिंह।
- \* भारत का संविधान, डी. डी. वसु।
- \* हमारा संविधान, सुभाष कश्यप।
- \* कास्ट इन पॉलिटिक्स, रजनी कोठारी।
- \* पॉलिटिक्स, अरस्तू।
- \* ग्रामर इन पॉलिटिक्स, लास्की।
- \* मेरे सपनों का भारत, महात्मा गांधी

## IS INTELLIGENCE AS WELL AS EMOTIONAL INTELLIGENCE DETERMINED MORE BY OUR GENES OR OUR ENVIRONMENT OR OUR SEX?

—S. N. Singh

Intelligence, indeed, has been one of the central subject matters of psychology and all types of disciplines have also been involved in the scientific study of human brain. When discussing brain science the question we are asked most often is : What is the basis of intelligence as well as emotional intelligence? Does intelligence together with emotional intelligence depend on our luck in genetic lottery or is it in clouding emotional intelligence something we can acquire through training and experience? or is human brain determined by our sex difference? or is intelligence including emotional intelligence a little of the three (genes, environment and sex.)? Few studies will be reviewed in this article that yield some dues regarding these fascinating questions. But, first of all, it is necessary to specify intelligence as well as emotional intelligence.

Intelligence is not a monolithic, easily definable entity. In the most general term, it is an ability to profit by past experiences. Most notably Binet and Terman towards the early 20th century devised tests for measuring the intelligence quotient of individuals. While this test does not have the kind of comprehensiveness that a true test of intelligence should possess, it does have some merit. I.Q. scores are strongly correlated with other measures that we think have something to do with intelligence such as grades in school. I.Q. scores have become widely used proxies for the more elusive nature of intelligence.

Emotional intelligence (E.I.) is a set of skills hypothesized to contribute to the accurate appraisal and expression of emotion in one self and in others, the effective regulation of emotion in self and others and use of feelings to motivate, plan and achieve in one's life. (Salovey and Mayer, 1990). In short, emotional intelligence is a distinguishable cluster of skills namely self awareness, self regulation, motivation empathy and social skills. Emotion here is used with intelligence is defined as an organized response system that co-ordinates psychological, perceptual, experiential, congrutive and other changes

---

\* Head Department of Psychology, M. P. College, Mohania, Kaimur, Under Veer Kunwar Singh University, Ara (Bihar).

into coherent moods and feelings (Mathur, Dubey and Malhotra, 2003). Thus, emotional intelligence (E.I.) refers to an ability to separate healthy from unhealthy feelings and to turn negative feelings into positive ones. The emotional intelligence factor has been shown to be four times as accurate in predicting efficiency at the work place as the traditional I. Q. factor.

Is intelligence determined more by our genes or our environment? In order to answer this question, a study is cited by Pawan Sinha, Cambridge, U.S.A. (2004) that was begun in 1979 by researchers at the university of Minnesota. They examined I. Q. scores of children in several thousand house holds. The children included identical twins, fraternal twins and non-twins siblings reared together or apart. The results were startling and thought provoking. I. Q. scores of identical twins even when raised apart, were remarkably similar to each other much more so than the scores of non-siblings reared together (The correlation for identical twins reared apart was 0.76 while that for non-twin siblings raised together was 0.47) In other words, irrespective of the environment, they were brought up in, identical twins exhibited similar intellectual abilities, presumably because of their common genetic blueprint or make up. This is, indeed, persuasive evidence in support of a genetic contribution to I. Q. This is also the kind of evidence that fuels unusual ideas.

If it is the case that genetics controls a big part of our intelligence, then we can conceivably create intelligent children using genetic material from really smart people. In the late 1970, Robert. K. Graham started. "The Repository for Germinal Choice" (RGC) in California, RGC sought to store reproductive cells from some of the most intelligent men on the earth including several Nobel laureates. Women volunteers could use these cells to conceive. During the twenty years of RGC's existence, 229 children were born using the genetic material from the repository. Just how intelligent are these children? Has the attempt to create intellectually gifted children been successful? Has nature trumped nurture? These are the important questions especially in the age of cloning and genetic engineering.

Thus, the twin-studies suggest that genes are important determining factors for I. Q., the study of RGC children is more equivocal. Even with the best genes one might do no better than average on intelligence tests. Regarding emotional intelligence and its genetic factors, one of the most interesting studies conducted was published by UNI (United News of India) in 1998 that the mother's genes play a major part in the development of the parts of offspring brains that are responsible for the intelligence, whereas, the father genes may shape not only his offspring but also those parts of his brains that influence emotional makeups (emotional intelligence). This result displays that the genes of the father determine, thus, emotional intelligence of the offspring. On the basis of the above factor, it is quite obvious that genes can not be the complete

story behind intelligence and there are very few studies regarding genes and emotional intelligence too. 30, it can not be clearly stated that genetic material is fully responsible in determining emotional intelligence.

What is ordinary people are reared in extraordinary environment? Do the genes or environmental factors take over? The following story might offer some hints in connection with these questions. In October, 1920, The Rev. Joseph A.L. Singh discovered two little girls who had apparently been raised by wolves. He brought them to the orphanage in Midnapur, Orissa. He named Kamla (8 years) and Amla (1.5 years). They appeared to be more animal than human but Rev. Sing took up the challenge of rehabilitating them within a year of their capture, the younger one died and Kamla lived for eight more years. But she responded little to Rev. and Mrs. Singh's interventions. She developed a vocabulary of 40 words and was usually unable to string the words into meaningful sentences. With great difficulty she learned to walk upright although she would revert back to the four-legged gait whenever she needed to run.

In Kamla's case, just being born a human was not sufficient-her genetic endowment on its own, devoid of the nurturing provided by human society could not lead to the development of her intelligence and many other faculties. We consider the hallmarks of human species. It is also worth nothing that the effectiveness of nurture changes over time; later nurture from human care givens could not entirely overcome Kamla's early deprivation.

A genetically based metabolic disorder called phenylketonuria (PKU) results in retardation if not detected soon after birth. Fortunately a simple urine test identifies this disorder and a diet low in phenylalanine can be provided so that intelligence develops normally. A case of two sisters may cited regarding phenylketonuria (PKU). They both were affected with PKU, a genetically based metabolic disorder. This order was not identified in time to prevent retardation in the older girl. The younger girl was placed on special diet immediately after birth and her intellectual development was normal. It may, clearly, be stated even though intelligence has a significant genetic component, environmental conditions can be crucially important (Hilgard, Atkineson and Atkinson 6th Ed. 1975). In a study conducted by Sontag and others (1958), it was found that children whose I.Q. increased during early years were more vigorous, emotionally independent, aggressive and actively engaged in exploring their environment than those whose I.Q.s failed to increase. Thus, it is quite clear that emotional intelligence helps to increase I.Q.s of children during early years of their development. According to Mathur, Dube and Malhotra (2003) EI has been four times accurate at the workplace as the I.Q. prevalent factor in predicting efficiency. Given two children with the same genetic structure at conception, the child with the fast prenatal and postnatal nutrition, the most intellectually stimulating and emotionally secure home and the most appropriate rewards for academic

accomplishments will attain the higher intelligence score when tested in first grade (Hilgard, Atkison and Atkinson, 1975). This suggests that individual and mental abilities are a function of genetic potential in interaction with such prenatal and postnatal environmental conditions.

Emotional makeups are determined by those parts of brain of an offspring which are shaped by father genes but environmental factors affect emotional intelligence is not more known on the basis of psychological studies. Further studies are required in this area. Thus it can not be stated clearly that environmental factors are only responsible for determining I.Q. factor and emotional intelligence.

Are male brain and female brain different in structure and function? or, how far is sex responsible for determining intelligence and emotional intelligence? or, are male and female brains alike? These fascinating questions are of greater importance and relevance now in the age of women empowerment, equality and justice. In order to answer these questions, one of the earliest studies may be cited published by Hindustan Times, Patna (August, 24, 2006). In this study, using studies on hormones, development and psychology by scientists in multiple fields as well as her own clinical experience. Louann Brizendine (a neuropsychiatrist) sets out to show the ways in which the female brain is different from the male brain. These ways are following :

- (1) The female brain sprouts connections in areas that govern communication and emotion while in the male brain more cells grow in areas that govern sex and aggression.
- (2) She will have eleven percent more neurons in her brain centres for language and hearing than a man.
- (3) Her principal hub for emotion and memory formation, the hippocampus will be larger.
- (4) His processor at the core of the primitive area of the brain that registers fear and triggers aggression, the amygdala will be larger and
- (5) Her space devoted to the sex drive will be two and half times smaller than his. They will think sex once a day, he will think about it every 58 seconds.

This study suggests that human brain is determined by sex. In other words, male brain is different from female brain on the basis of structure and function.

Several studies have found that except in very few areas physical strength, physical aggression, incidences of masturbation and attitudes about casual sex, on the whole men and women are much more alike than they are different (Hindustan Times, 2006) while sex-based differences are clearly present, Devid

Rubinow (chairman of the department of psychiatry at the university of Carolina, Chapal Hill says those differences do not exclude the effect of non-sex-related factors involving biology, culture or the environment (Hindustan Times, 2006). Thus, it can not be clearly stated that sex has its own independent efficacy to determine human brain or intelligence or other mental faculties.

Obviously, then we are products of the three (genes, environment and sex) and the three are so entwined that it probably does not even make sense to talk about their independent efficacies. Each male and each female has a separate type of day (intellectual endowment). It is up to him or her realize his or her potential. In other words, basically, quantity and quality of human brain is decided by genetic blue print and sex difference, however, how long does it persist, depend on the factors present in the environment (Nurture).

### References

1. Hindustan Times, Patna (2004), *Nature and Nurture of the human brain* written by Pawan Sinha, Dept. of Brain and Cognitive Sciences MIT, U.S.A. August, 14.
2. Hindustan Times, Patna (2006), *A Peek inside the female brain* by L. Brizendine, a neuropsychiatrist Published on 24th August, 2006, page. 9.
3. Hilgard, E : R, Atkinson, R. C. Atkinson, R. L. (1975), *Introduction to Psychology* (6th Ed.), Ability Testing and Intelligence, page. 417-419.
4. Mathur, Dube and Malhotra (2003), *Emotional Intelligence : Inter - Relationship of Attribution*, Taking responsibility and scholastic performance in adolescents : Indian psychological review Vol. 60, No. 4, page.175-180/
5. Sontage, L. W. and etal (1958), *Mental Growth and Development : A longitudinal study*, Monographs of the Society for research in child development 23, Serial No. 68, 414.
6. Salovey, P & Mayer, J. D. (1990), *Emotional Intelligence, imagination, cognition and personality*, 9, page 185-211.
7. United News of India (1998), *Thank you mother of intelligence*, the tribune, 21st July, page 10.

## JUDICIAL OBJECTIVITY - A CONCEPTUAL FRAME WORK

—Dr. Rama Kant Singh

Good laws are the product of a good civilizations because they are the outward manifestations of inward values. Though nice legal codes are important, a truer test of the height of civilization lies in the quality of the Judiciary which is essentially the core of lasting values. The purer the standards of conduct in impartiality of the Judges, the highest is the plane of civilization.

Judges no doubt ought to be unbiased and above party politics. But can they be above ideas? Is judicial objectivity possible? Can we have unbiased judges? Judges are not hermits. They do have their set of ideas, attitudes and passions. A judge who is 'majestic and serene seeking inspiration as if from the stars...with the detachment of a seer, the voice soft and glorious, meant to fill the exalted cathedral...citadel of justice itself...is only a large assumption of fine fancy.'<sup>1</sup>

Judicial objectivity should not be taken to mean value neutrality. Detached scientific objectivity is a delusion that threatens not only science itself but other human activities as well and which automatically impoverishes our moral stands.

Our entire knowledge can be divided into three principal categories; (1) Science, (2) Art and (3) Philosophy and religion. The first is concerned with (objective) truth, second with beauty and third with virtue, but these are by no means watertight compartments.

The human greatness which is common to all categories can thus be thought of as man's participation in varying degrees of truth, beauty and goodness—values which I hold to be absolute and imperishable; therefore I believe that human greatness partakes of universality and endures.<sup>2</sup>

With objectivity objectivity in the scientific sense of the term, meaning value neutrality, no amount of genetic, psychological, chemical and medical knowledge available today can explain virtue and goodness. Although science can direct the further development of man by controlling his propagation, through its means, like improving his health and raising his intelligence, it has no means whatever for augmenting his essential humanness.

---

\* Reader Political Science, Pt. Kamalapati Tripathi Government Post Graduate College, Chandauli (U.P.).

To consider a scientifically directed world as inevitable indicates a failure to understand the full significance of psychological evolution. It is just not possible to have persons with 'value-free' ideas or with that kind of objectivity. A personality is determined by many factors. Definitionally, people's external appearance and behaviour, inward awareness of self and pattern of immeasurable traits make up their personalities. Judges, like other human beings, are not above these traits, Justice Cardozo rightly said :

The decisions of the judge are considerations of social philosophy. He is influenced by inherited instincts, traditional beliefs, acquired conviction and conception of social needs. He must balance his analogies, his history, his custom, his sense of right and all the rest and adding a little here and taking out a little there, must determine as wisely as he can which weight shall tip the scales.<sup>3</sup>

The question that arises is whether there is anything like impartiality or unbiased opinion.

To answer one must first try to grapple with the word 'bias'. It means prejudice, show of favor or dis-favor; antagonism, spite; hostility; prepossession that sways the mind. As a verb it means to influence; to prejudice; to prepossess (often unduly). Such bias in a judge or magistrate is called judicial bias.

Sir Carleton Kemp Allen in his *Law and Orders* has given a very clear and authoritative idea of bias. He says :

Bias has been very strictly interpreted in our law. In the widest terms, any interest, motive or influence which, in the opinion of the court may impair the 'objectiveness of a decision' - or what is equally important, may have the appearance of so doing - will invalidate a judicial or quasi-judicial determination.

*In Andhra Pradesh State Road Transport Corporation Vs. Satyanarayan Transporters<sup>4</sup>* the Supreme Court propounded the concept of judicial or quasi-judicial bias in these words : 'It is an elementary rule of natural justice that a person who tried a case should be able to deal with the matter before him objectively, fairly and impartially.'<sup>5</sup>

The concept of Judicial Objectivity is as ancient as the concept of justice itself. The idea of 'equality' which is the figurative equivalent of 'impartiality' is inherent in the concept of justice. The Islamic nation of justice is conveyed by the Persian word *insaf*, a derivative from *nisf* meaning equal part. *Insaf* thus carries the idea of equality which in turn connotes impartiality. The nation of impartiality has been handed down to us with legends like that of King

Naursherwan who preferred to spoil the shape of his palace rather than force an old woman to vacate her hut situated at the corner of the site. It was within the King's power to straighten the alignment of his place by pulling down the hut, but then King Naursherwan would have been guilty of bias in his own favour and his fame as a devotee of justice would have found no place in history.

Manu Neethi Kondachola of Chola in South India of ancient times, likewise, vindicated the impartiality of justice even against his own son, the crown prince. It is recorded that he ordered the prince to be run over by a chariot in response to theory of the cow which, by ringing the bell of justice at the place gate, complained of the loss of its calf which had been run over by the prince's chariot. Emperor Jehangir also once offered himself to be shot by the arrow of a laundress who had complained that her husband had been killed by the Queen's arrow.

A classic example of the impartiality and independence of judges is provided by Sir William Gascoigne, the Chief Justice of England during the reign of King Henry IV in the fourteenth century. A friend of the Prince of Wales was being tried for felony before Sir William's court. The King rushed to the court and demanded the release of his friend which the Chief Justice, politely but firmly refused. The prince as follows:

"Sir, remember yourself. I keep here the place of the King, your sovereign lord and father to whom you owe double obedience. Wherefore in his name I charge you to desist from your wilfulness and unlawful enterprise and henceforth give good example to those who hereafter shall be your future subjects. And now for contempt of disobedience to the court, go you to the person of King's Bench where unto I command you to remain until the pleasure of the King, your father, be further known".<sup>6</sup>

This valiant and bagacious pronouncement moved the Prince making him realize his fault. He bowed down to court, laid down his sword, and received the sentence levied. When the King heard of this he exclaimed with joy that God had given him a judge who feared not to administer justice, but also a worthy son who could suffer and obey justice.

Against such shining examples, the fact still cannot be ignored that judicial bias is possible in lesser mortals occupying the august place of judge, such bias can arise from a variety of causes, such as :

- (i) Pecuniary interest of the judge in the subject-matter of the case before him.
- (ii) His interest in one or the other of the litigating parties.

- (iii) Political pressure, or personal views about political parties.
- (iv) Desire on his part to gain favour respecting his future prospects.
- (v) Yielding to influence brought to bear upon his judicial duty by private individuals.
- (vi) The human psychology of returning the good turn done to him prior to appointment as judge or during the currency of office.
- (vii) A desire to patronise any former colleague (s) at the bar.
- (viii) A misplaced craving to make improper use of the wide powers vested in him; in the words of Lord Acton 'power corrupts.'
- (ix) An inherent tendency to show favour to certain classes of cases.
- (x) Any other corrupt motive not covered by any of the above items.

Whatever be the underlying cause, judicial bias is, in all cases and all events, equally reprehensible. A person, on appointment as judge, begins not a new chapter of his life but really a new life in which he has to forget his antecedents and interests and embark upon a rigorous control over the infirmities inherent in a human being. He becomes a judge of a sublime cause of the highest value in society, the cause of justice between man and man. He has to get rid of all subjectivity, emotion, affection and sentiments while occupying the hallowed seat of justice. The public expects a super-man in him, while this expectation may be exaggerated he is none the less thought to be the less thought to be the embodiment of the highest standards of behaviour morality and residuary virtues.

The principles regarding judicial objectivity have been stated by Justice Hidayatullah, former Chief Justice of India, In *Vishvanathan Vs. Abdul Wajid* in these words :

...It is the essence of a judgement of a court that it must be obtained after due observance of judicial process, that is the court rendering the judgement must observe the minimum requirements of natural justice—it must be composed of impartial persons, acting fairly without bias, and in good faith, it must give reasonable notice to the parties to the dispute and afford each party adequate opportunity of presenting his case...

A judgement which is the result of bias or want of impartiality on the part of judge will be regarded as nullity.<sup>7</sup>

This does not mean that a judge should be cut off from society. In fact, he must be aware of the changing social scene for his perception of change will naturally be reflected in the way he interprets the law. He should try to

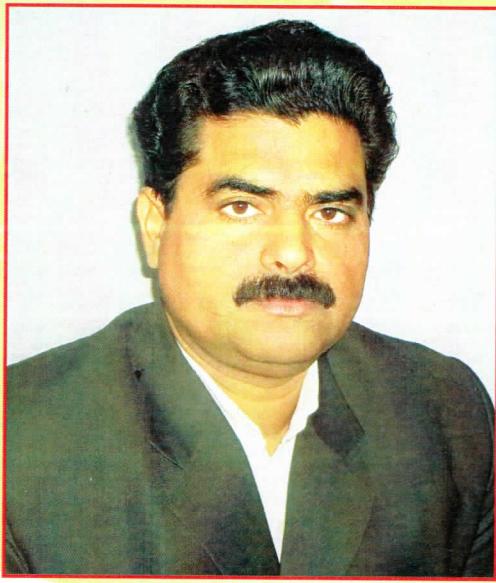
reconcile law to the notions of social justice because law is an instrument for delivery of justice.

Judges, thus, should be above party politics but they cannot be above policy politics or above differences of ideas and ideologies, actions and programmes. There is nothing more objectionable than a 'political judge twisting and adopting the judgements to suit his political views or worse, to suit the political views of the party in power.<sup>8</sup> The notion of a so called committed judiciary, i.e. judiciary committed to the philosophy of the Executive and Parliament is contradictory of judicial objectivity. A dependent judiciary is just an extension or branch of the Executive and the Legislature. And that would be the end of the concept of judicial objectivity. As Justice S.M. Sikri said : "If the social philosophy theory were to be accepted, a judge of Tamil Nadu would decide a case according the philosophy of the ruling party there. Where would the law be? He facetiously asked if the judge should change his color like a chameleon every time a new party was voted to power."<sup>9</sup>

Judges cannot be above ideas, yet for the sake of judicial objectivity their own philosophy, to an extent is circumscribed by the philosophy of the constitution. Judges are not above the constitution because it is the constitution which creates them. In other words, the philosophy of every judge is itself committed to the Constitution.

### References

1. V. R. K. Iyer, Law Vs. Justice, p.72
2. Roberts, Scientific Conscience, p.54
3. V.R.K. Iyer, op.cit., p.67
4. A.P., 87 (1948)
5. A.A. Misra, Law of Bias and Malafides, p.2
6. AIR 1963, SC 1.
7. M.C. Chagla, "The Role of Judiciary in Parliamentary Democracy", Sher off Memorial Lecture, 28 Oct., 1947, quoted by V. L. Dudeja, Judicial Review in India, p.127
8. Ibid.



**Dr. Rishikesh Singh**  
*Editor in Chief*

**INDIAN JOURNAL OF SOCIAL  
SCIENCES & SOCIETIES**

*Publisher*

**Flash Publication**

Janaki Nagar (Basant Bihar), Bahraich Road, Gonda (U.P.)  
Mob. 9415458974